"गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य"

(एम. फिल. उपाधि के लिए प्रस्तुत लघु शोध-प्रबन्ध)

शोध-निर्देशिका

प्रो० सावित्री चन्द्र 'शोभा'

शोधकर्ता

चमन लाल शर्मा

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा संस्थान

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

1991

जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI - 110067

भाषा संस्थान
भारतीय भाषा केन्द्र

दिनांक :

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि श्री चमन लाल शर्मा द्वारा प्रस्तुत '' गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य '' शीर्षक लघु शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत सामग्री का इस विश्वविद्यालय अथवा अन्य विश्वविद्यालय में इसके पूर्व किसी भी प्रदेय उपाधि के लिये उपयोग नहीं किया गया है ।

मैं यह भी प्रमाणित करती हूं कि यह लघु शोध प्रबन्ध श्री चमन लाल शर्मा की मौलिक कृति है ।

अध्यक्ष
भारतीय भाषा केन्द्र
भाषा संस्थान
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो० सावित्री चन्द्र 'शोभा'
निदेशिका
भारतीय भाषा केन्द्र
जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्राक्कथन

लोक-संस्कारों के कारण लोक-साहित्य के प्रति मेरी अभिरुचि प्रारम्भ से ही रही है, किन्तु गढ़वाली लोक-समाज में प्रचलित उन मिथकीय परम्पराओं ने लोक-साहित्य के प्रति मेरी संस्कारजनीन उत्कण्ठा को और अधिक बढ़ाया है, जिनके अनुसार किसी विशेष अवस्था में किसी विशेष व्यक्ति के अन्दर देवता का प्रवेश कराया जाता है, फिर गीत कथाओं के साथ ढोल आदि वाद्यों का प्रयोग कर उस व्यक्ति से नृत्य करवाया जाता है। मिथक के अनुसार यह कार्य देवता को प्रसन्न करने तथा जन-समाज की खुशहाली के लिए किया जाता है।

लोक-साहित्य में मूल मानव बोलता है। उसके अध्ययन से समाज के वे तत्व उभर कर ऊपर आते हैं, जो विस्मृति के अनेक पर्तों में दब गये हैं, वे भावनाएं प्रकट होती हैं, जो विदेशी सभ्यता ने मस्तीसात् कर दिए। वह परम्परा, विकासक्रम और इतिहास सामने आता है, जिसे सभ्य समाज भूलता जा रहा है या भूल गया है और वह आत्म विश्वास उभरता है, जो अपने पूर्वजों की सर्जनाओं के पुनर्मूल्यांकन को प्रेरणा देता है।

गढ़वाली लोक साहित्य के अध्ययन का प्रस्ताव जब मैंने अपनी शोध निर्देशिका प्रो० सावित्री चन्द्र के सम्मुख रखा तो उन्होंने उसे तुरन्त स्वीकार कर पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया और मुझे लोक-साहित्य को समझने की समाजशास्त्रीय दृष्टि दी। उनकी पुस्तक 'समाज और संस्कृति' ने मेरी इस दृष्टि को अधिक स्पष्ट किया है।

साहित्य एवं भाषा-विज्ञान की दृष्टि से गढ़वाली लोक-साहित्य का अध्ययन अवश्य प्रारम्भ हो गया है किन्तु उसके समाजशास्त्रीय अध्ययन के प्रति अभी तक विद्वानों का ध्यान कम गया है । यद्यपि लोक-गीत, लोक-गाथाओं और लोक-कथाओं के संग्रह छपे हैं, भूमिकाओं में विश्लेषण भी प्रस्तुत किये गये हैं, पर सम्पूर्ण लोक-साहित्य के विविध अंगों का विधिवत अध्ययन नहीं प्राप्त होता । भाषा और साहित्य की दृष्टि से गढ़वाली लोक साहित्य के अध्ययन का सर्वप्रथम प्रामाणिक प्रयास डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश` ने अपनी पुस्तक `गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य` में किया है । उसके बाद डा० मोहनलाल बाबुलकर ने अपनी पुस्तक `गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन` मेंगढ़वाली लोक-साहित्य के रूपों का वर्गीकरण कर गढ़वाली जन-जीवन को खोजने का प्रारम्भिक प्रयास शुरू किया था, लेकिन वह विवरणात्मक पक्ष पर ही अधिक ध्यान दे पाये हैं । इनके अलावा डा० गोविन्द चातक ने भी गढ़वाली लोक साहित्य के प्रकाशन और विवेचन में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है । उन्होंने गढ़वाली लोक-गाथाओं का संग्रह प्रकाशित किया है किन्तु उसका सामाजिक विवेचन नहीं किया है ।

गढ़वाली लोक-समाज के अध्ययन के लिए मैंने गढ़वाली लोक गाथाओं को ही आधार बनाया है । क्योंकि समाज का जितना विशद चित्रण गाथाओं में होता है, उतना अन्यत्र नहीं ।

गढ़वाली लोक-गाथाओं का संग्रहण, प्रकाशन और विवरणात्मक अध्ययन अवश्य हुआ है, किन्तु उनका सामाजिक विवेचन अभी तक नहीं हो पाया है । सर्वथा मौलिकता की दृष्टि से भी मैंने गाथाओं को ही अध्ययन के लिए चुना है । गाथाओं के माध्यम से गढ़वाली लोक-समाज के मूल्यांकन और विश्लेषण के लिए मैंने डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश` की पुस्तक `गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य` में संकलित गढ़वाली लोक-गाथाओं तथा डा० मोहनलाल बाबुलकर की पुस्तक `गढ़वाली साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन` में संकलित गाथाओं को ही आधार बनाया गया है ।

निःसन्देह इस अध्ययन का क्षेत्र सीमित है तथापि गढ़वाली लोक-गाथाओं का वर्गीकरण और सामाजिक मूल्यांकन कर, इसके माध्यम से गढ़वाली लोक जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध चार अध्यायों में विभक्त है । प्रथम अध्याय में अपने अध्ययन की भूमिका प्रस्तुत करते हुए लोक साहित्य और उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि को प्रकट किया गया है । इसके अन्तर्गत लोक साहित्य का स्वरूप, लोक साहित्य और सामाजिक जीवन-मूल्य तथा लोक-साहित्य के विकास-क्रम में गढ़वाली लोक-साहित्य का स्थान निर्धारित किया गया है ।

द्वितीय अध्याय में गढ़वाली लोक-गाथाओं का सामान्य परिचय देते हुए गढ़वाली लोक साहित्य में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्यों को रेखांकित किया गया है । इसके अंतर्गत गढ़वाली लोक-समाज में जातीय और पारिवारिक सम्बन्धों के स्वरूप, नारी की स्थिति और उसकी वर्गीय चेतना को व्याख्यायित किया गया है ।

तृतीय अध्याय में राजनैतिक जीवन-मूल्यों का विवेचन किया गया है । इसके अन्तर्गत राजा-प्रजा सम्बन्ध, पंचायत और मुखिया आदि के कार्यों और प्रशासन का उल्लेख करते हुए उस पूरे राजनैतिक परिवेश को प्रस्तुत किया गया है ।

चतुर्थ अध्याय में गढ़वाली लोक-समाज के सांस्कृतिक पक्ष का विश्लेषण किया गया है । इसके अन्तर्गत संस्कृति के बाह्य पक्ष से सम्बन्धित बाढ़वाली लोक समाज के खान-पान, रहन-सहन, वस्त्राभूषण, मनोरंजन, मेले, उत्सव तथा त्यौहार एवं संस्कृति में वैचारिक पक्ष से सम्बन्धित धार्मिक-मान्यताएं, अन्धविश्वास, तंत्र-मंत्र, जादु-टोना आदि का विवेचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है ।

इस समूचे अध्ययन का सारांश निष्कर्ष रूप में उपसंहार में दिया गया है ।

इस शोध को सम्पन्न करने के लिए मेरे गुरुजनों के अतिरिक्त अनेक मित्रों और सहयोगियों ने समय-समय पर मुझे सम्मति और सुझाव दिये हैं । अपनी अनेक व्यस्तताओं के बावजूद श्री राजेन्द्र घस्माना, श्री देवेन्द्र सक्लानी और श्री विनोद चन्दोला जी ने मुझे जो वांछनीय सहयोग दिया है, मैं उसके लिए आभार प्रकट करता हूं । पारिवारिक सदस्यों में मंजु और रश्मि ने भी सामग्री संकलन में सहायता पहुंचाई है ।

प्रमुख रूप से मैं अपनी शोध निर्देशिका प्रो० सावित्री चन्द्र 'शोभा' जी का आभार व्यक्त करता हूं जिनके स्नेहपूर्ण एवं कुशल निर्देशन में यह शोध सम्पन्न हो सका है । लोक-साहित्य को समझने की जो नयी दृष्टि मुझे मिली है, वह इन्हीं के सानिध्य और सहयोग का परिणाम है ।

(चमन लाल शर्मा)

अनुक्रम

पृष्ठ संख्या

प्राक्कथन

प्रथम अध्याय : पृष्ठभूमि 1

(१) लोक-साहित्य का सामान्य परिचय 1

(२) लोक-साहित्य के विभिन्न रूप 9

(क) लोक-गीत 10

(ख) लोक-गाथा 12

(ग) लोक-कथा 15

(घ) लोक-नाट्य 17

(ङ) लोक सुभाषित 19

(३) लोक-साहित्य और सामाजिक जीवन-मूल्य 20

(४) लोक-साहित्य का विकासक्रम और गढ़वाली लोक-साहित्य 124

द्वितीय अध्याय : गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य 27

(१) गढ़वाली लोक-गाथाओं का सामान्य परिचय 27

(२) गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य 33

(३) वर्गगत, जातीय और पारिवारिक सम्बन्धों का स्वरूप 38

० परिवार 44

(क) पति-पत्नी सम्बन्ध 48

(ख) सास-बहु का सम्बन्ध 51

पृष्ठ संख्या

(ग) देवर-भाभी का सम्बन्ध 54

(घ) सपत्नी सम्बन्ध 55

(४) नारी सम्बन्धी जीवन-मूल्य 57

(५) नारी की वर्गीय चेतना - 63

(अ) आर्थिक

(आ) राजनैतिक

(इ) धार्मिक

तृतीय अध्याय : गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त राजनैतिक जीवन-मूल्य 66

(क) राजा-प्रजा सम्बन्ध 70

(ख) पंचायत और मुखिया 75

(ग) आर्थिक पक्ष : कृषि और व्यवसाय । 78

चतुर्थ अध्याय : गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्य 81

(१) संस्कृति से तात्पर्य 81

(२) संस्कृति का बाह्य स्वरूप 85

(क) वेशभूषा 85

(ख) आभूषण 87

(ग) खान-पान 88

(घ) रहन-सहन 89

(ङ) मनोरंजन 90

(च) मेले, उत्सव तथा त्यौहार 92

पृष्ठ संख्या

(३) संस्कृति का वैचारिक पक्ष 93

(क) धार्मिक मान्यताएं 93

(ख) अंध विश्वास 95

(ग) तंत्र-मंत्र 97

(घ) जादू टोना 98

100

उपसंहार

परिशिष्ट 103

(अ) सहायक ग्रन्थ सूची 103

(आ) कोश-सूची 106

(इ) पत्रिकाओं की सूची 106

000
0

प्रथम अध्याय

पृष्ठभूमि

लोक साहित्य का सामान्य परिचय

`लोक-साहित्य` शब्द `लोक` और साहित्य ` इन दो शब्दों से बना है । इसका वास्तविक अर्थ है लोक का साहित्य । लोक यहाँ अंग्रेजी के `फोक` (Folk ) शब्द का पर्यायवाची है । `फोक` के पर्याय से `लोक` के कई अर्थ हो सकते हैं - उस लोक या समाज का साहित्य जो सभ्यता की सीमाओं से बाहर है, सभ्य-समाज में जिनकी गिनती नहीं उनका साहित्य । ° `फोक` शब्द केअन्तर्गत वे ही लोग आ सकते हैं, जो आदिम परम्परा को सुरक्षित रखे हुए हैं । क्योंकि `लोक-साहित्य` का सम्बन्ध `फोक-लोर`, `फोक-लिटरेचर` या `लोक-वार्ता ` साहित्य से है ।°[१] यद्यपि `लोक-वार्ता ` शब्द अधिक व्यापक है, लेकिन अपनी अभिव्यक्ति में वह लोक साहित्य का भी अर्थ देने लगता है । अलेक्जेण्डर स्च० क्रेप्स ने इस शब्द को दो रूपों में प्रयुक्त किया है -- एक - लोगों की अलिखित परम्पराओं की सामग्री, जो लोक-व्यापी (अर्थात् अ-साहित्यिक) कथा, कहानी, रिवाज, विश्वास, जादू-टोना तथा अनुष्ठान में मिलती है । दो - वह विज्ञान जो इन सामग्रियों का अध्ययन करना चाहता है ।[२] सी० एन० बर्न ने भी लोक-साहित्य को लोकवार्ता का ही अंग माना है तथा लोक-साहित्य की अपेक्षा लोक-वार्ता की व्यापकता को स्वीकार किया है -- ` `लोक-वार्ता ` के अन्तर्गत पिछड़ी जातियों में प्रचलित अथवा अपेक्षाकृत समुन्नत जातियों के असंस्कृत समुदायों में अवशिष्ट विश्वास, रीति-रिवाज,

---

१. हिन्दी साहित्य शब्द कोष - लोक साहित्य - सं० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ७५३

२. सन्दर्भ : छत्तीस गढ़ी लोक जीवन और लोक साहित्य - डा० शकुन्तला वर्मा, पृ० ३६

कहानियाँ, गीत तथा कहावतें आती हैं। प्रकृति के जड़ तथा चेतन जगत के सम्बन्ध में, भूत-प्रेतों की दुनिया तथा उनके साथ मनुष्यों के सम्बन्ध के विषय में जादू-टोना, सम्मोहन-वशीकरण, तावीज, भाग्य, शकुन, रोग तथा मृत्यु के सम्बन्ध में आदिम तथा असभ्य विश्वास इसके क्षेत्र में आते हैं। और भी इसमें विवाह, उत्तराधिकार, बाल्यकाल तथा प्रौढ़ जीवन के रीति-रिवाज तथा अनुष्ठान और त्यौहार, युद्ध, आखेट भी इसमें आते हैं तथा धर्म-गाथाएं, अवदान (लीजेण्ड), लोक कहानियाँ, किंवदंतियाँ, पहेलियाँ और लोरियाँ भी इसके विषय हैं।"[१] स्पष्ट है कि `लोक साहित्य` `लोक-वार्ता` से अर्थ ग्रहण करता है, लेकिन उसमें `लोक वार्ता` जितनी व्यापकता नहीं होती।

साहित्य शब्द के साथ `लोक` जोड़ देने से यह किसी विशेष साहित्य की ओर इंगित तो करता है, लेकिन इसके बावजूद वह अपनी विशेषता के साथ अन्य अनेक अर्थ भी देने लगता है। डा० सत्येन्द्र ने `लोक-साहित्य` शब्द को कुछ इस तरह से परिभाषित किया है --"लोक साहित्य के अन्तर्गत वह भाषागत अभिव्यक्ति आती है जिसमें --

(अ) आदिम मानव के अवशेष उपलब्ध हों,

(आ) परम्परागत मौखिक क्रम से उपलब्ध भाषागत अभिव्यक्ति हो, जिसे किसी की कृति न कहा जा सके, जो श्रुति ही माना जाता है और जो लोक मानस की प्रवृत्ति में समाई हो,

(इ) कृतित्व हो किन्तु वह लोक-मानस के सामान्य तत्वों से युक्त हो कि उसको व्यक्तित्व के साथ सम्बद्ध करते हुए भी लोक उसे

---

१. ए हैण्ड बुक आफ फोक लोर - सी० एच० बर्न - पृ० ४

अपने ही व्यक्तित्व की कृति स्वीकार करें ।"[१]

एक अन्य जगह पर भी उन्होंने लोक साहित्य में लोक तत्वों की प्रमुखता की बात की है -- " 'लोक' मनुष्य समाज का वह वर्ग है, जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्व चेतना अथवा अहंकार से शून्य है, और जो एक परम्परा के प्रवाह में जीवित रहता है, ऐसे लोक की अभिव्यक्ति में जो तत्व मिलते हैं, वे लोक तत्व कहलाते हैं तथा ऐसे लोक का साहित्य ही लोक-साहित्य है ।"[२] डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी ने लोक-साहित्य को ग्रामीण साहित्य कहते हुए लिखा है कि --"ग्रामीण लोक समाज जिन शब्दों में अपने हृदय के उद्गार प्रकट करता है, साधारण जनता जिन शब्दों में गाती है, रोती है, हंसती है, खेलती है, उन सब को लोक-साहित्य कहा जा सकता है ।"[३] लेकिन लोक-साहित्य को ग्रामीण-साहित्य कहने से वह सीमित अर्थ देने लगता है । लोक-साहित्य शहरों और कस्बों में बसे हुए विशेष वर्ग का साहित्य भी हो सकता है, जिसकी पहचान उसकी लोक-परम्परा और लोक-संस्कृति के जीवन्त तत्वों की विद्यमानता केकारण होती है, वह सभ्य संस्कृति के साथ रहते हुए भी उससे उतना ही दूर है, जितना ग्रामीण लोक-समाज, शहरी होते हुए भी - उसकी चेतना लोक-तत्वों से ही अनुप्राणित होती है ।

---

१. मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का लोकतात्विक अध्ययन - डा० सत्येन्द्र, पृ० ३५

२. लोक साहित्य विज्ञान - डा० सत्येन्द्र, पृ० ३

३. कन्नौजी लोकसाहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब - डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी, पृ० १

दरअसल शहरी या कस्बाई लोक-समाज की बात मैंने इसलिए की है कि औद्योगिकीकरण के कारण गाँवों से शहरों की ओर जो पलायन हुआ है, वह बड़ी संख्या में हुआ है, दूर-दराज के अंचल के इस वर्ग को सभ्य-संस्कृति ने अपनी ओर आकृष्ट तो किया, लेकिन उन्हें स्वीकार नहीं किया, या यूं कहें कि अपनी आर्थिक मजबूरी के कारण ये लोग शहरों की ओर तो आये लेकिन अपनी लोक-चेतना और संस्कारों के कारण शहरी संस्कृति को सहसा आत्मसात् नहीं कर पाये । इसलिए इन्होंने अपनी परम्परा और संस्कृति को ही सभ्य-संस्कृति (शहरी संस्कृति) के समानान्तर प्रवाहित किया, जो लोक-तत्वों और लोक-चेतना से अनुप्रेरित होती है । कहने का आशय यह है कि शहरों या कस्बों में रहनेवाला वह विशेष वर्ग जिसे 'लोक' कहा जा सकता है, का साहित्य भी लोक-साहित्य हो सकता है, इसलिए लोक-साहित्य को ग्रामीण साहित्य कहना उसके अर्थ विस्तार की सम्भावना को कम करना है । आज लोक-साहित्य को हम जिस रूप में ग्रहण करते हैं, निश्चित ही वह इससे कहीं अधिक व्यापक है । लोक साहित्य में किसी देश या जाति की हजारों वर्षों की परम्परा, राष्ट्र के उत्थान पतन, मानव जाति के सम्पूर्ण जीवन की कहानी गुम्फित होती है, अतीत से लेकर आज तक की समस्त बौद्धिक, धार्मिक तथा सामाजिक प्रवृत्तियों का विकासशील इतिहास लोक-साहित्य में मिलता है । लोक साहित्य का सम्बन्ध नृ शास्त्र, समाजशास्त्र, भाषा विज्ञान, इतिहास, भूगोल, मनोविज्ञान आदि शास्त्रों से अखण्ड रूप से है ।

हमारी परम्परा में भी `लोक ` शब्द अनेकार्थी रहा है । लोक का एक अर्थ वेदेतर भी रहा है । समाज में नागरिक और ग्रामीण दो भिन्न संस्कृतियों का प्राय: उल्लेख किया जाता है, पर लोक दोनों में विद्यमान है ।[१] लोक हमारे जीवन का महा समुद्र है, जिसमें भूत, भविष्य,

---

१. भारतीय लोक साहित्य - डा० श्याम परमार, पृ० १०

वर्तमान सभी कुछ संचित रहता है, लोक राष्ट्र का अमर स्वरूप है ।[१] भारतीय विचारकों ने लोक का बहुत विशद अर्थ किया है । यदि लोक को मानव मात्र के पर्याय के रूप में ग्रहण किया जाय तब तो मानव समाज का जितना भी साहित्य है, वह सभी लोक साहित्य में अन्तर्भूत हो जायेगा, दूसरी ओर यदि 'लोक-परिपाटी' को दृष्टि में रखा जाय तो वेद से इतर जितना भी साहित्य है, वह सारा का सारा लौकिक कोटि में तो आ जायेगा, पर उसे लोक-साहित्य कदापि नहीं कहा जा सकता । इसे स्पष्ट करते हुए ही हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है --"हमें 'लोक' का अर्थ समझने में यह न भूलना चाहिए कि इस विशिष्ट क्षेत्र में 'लोक' शब्द की अपनी सीमाएं हैं, अत: एक सीमा तक ही यह मूल रूप से अर्थ दे सकता है, यह बात अवश्य है कि फोक (Folk) के नितान्त संकुचित अर्थ को कुछ विस्तार दिया जा सकता है । क्योंकि पर्याय होने पर भी शब्द की कुछ अपनी परम्परा होती है और उस परम्परा से उसका सम्बन्ध एकदम विच्छिन्न हो जाय, यह तो सम्भव ही नहीं है ।हमारा लोक पाश्चात्य लोक से कुछ भिन्नता रखता है और इसका अर्थ ग्राम्य नहीं है वरन् नगरों और गांवों में फैली हुई समूची जनता है, जिसके व्यावहारिक ज्ञान का आधार पोथियां नहीं हैं ।[२]

यह 'लोक' शास्त्र की ओर उन्मुख न होकर अपनी परम्परा से प्राप्त गीतों, कहानियों तथा कहावतों से प्रेरणा लेकर जीवन क्षेत्र में अग्रसर

---

१. सम्मेलन पत्रिका, लोक संस्कृति विशेषांक - डा० वासुदेव शरण अग्रवाल, पृ० ६५

२. 'जनपद'- लोक साहित्य का अध्ययन - हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६५

होता है । और यही लोक पारिभाषिक शब्द `लोक-साहित्य` के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है और इसी लोक का साहित्य जो पीढ़ी दर पीढ़ी मौखिक परम्परा में चलता है, `लोक साहित्य` कहलाता है ।

कुछ विद्वानों ने, विशेष रूप से रामनरेश त्रिपाठी ने `फोक` (Folk) के लिए `ग्राम` शब्द का प्रयोग किया है । उन्होंने अपनी लोक-साहित्य सम्बन्धी सभी पुस्तकों में `ग्राम-साहित्य`, `ग्राम-गीत`, `ग्रामीण-कहावतें` - इन्हीं शब्दों का प्रयोग किया है । उन्होंने स्वयं भी कहा है कि लोक गीत की अपेक्षा ग्रामगीत ज्यादा उपयुक्त है ।[१] जबकि गीतों की रचना में ग्राम और नगर की उतनी भूमिका नहीं है, जितनी सर्वसाधारण लोक की ।[२] यही बात ग्राम-साहित्य के सन्दर्भ में भी कही जा सकती है । कृष्णदेव उपाध्याय के अनुसार फोक-लिटरेचर (Folk-Literature) को `ग्राम-साहित्य` न कहकर `लोक-साहित्य` कहना ही अधिक तर्कसंगत होगा ।[३]

लोक साहित्य के उपर्युक्त विवेचन को अधिक स्पष्ट करने के लिए डा० सन्तराम बनिल के शब्दों में कहा जा सकता है कि --`सर्व-साधारण समाज की वह मौखिक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति, जिसकी रचना में अभ्यास

---

१. जनपद त्रैमासिक अंक - ग्रामीण साहित्य - रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ११
२. राजस्थानी लोक गीत - डा० सूर्यकरण पारीक, पृ० १
३. लोक साहित्य की भूमिका - डा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १६

और अध्ययन की अपेक्षा नहीं होती, जिसमें कर्ता का व्यक्तित्व साधारणीकृत हो जाता है और जिसमें आदिम मानव के कुछ न कुछ अंश विद्यमान हों तथा जिसे एक पीढ़ी दूसरी पीढ़ी को सौंपती चली जाय, 'लोक-साहित्य' कहलाती है।'[१]

वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'फोक लोर' शब्द का हिन्दी पर्यायवाची शब्द 'लोकवार्ता' बताया है और लोक साहित्य को लोक वार्ता का ही एक अंग माना है[२], परन्तु कृष्णदेव उपाध्याय ने 'लोक-वार्ता' शब्द को अधिक से अधिक लोक-कथा या लोक चर्चा का भाव वहन करने की क्षमता तक ही सीमित कहा है[३] डा० सत्यव्रत सिन्हा ने 'लोक-साहित्य' के दो भेद बताते हुए कहा है कि -'लोक-साहित्य के दो भेद हैं - लोक-गीत और लोक-वार्ता। वार्ता शब्द में इतनी व्यापकता नहीं है कि उसमें समस्त लोक-साहित्य का समावेश हो जाय।'[४] ब्रज लोक साहित्य का विवेचन करते हुए डा० सत्येन्द्र ने भी लोक साहित्य को लोक वार्ता से अधिक व्यापक माना है -'एक दृष्टि से लोक साहित्य का एक अंग हो लोक-वार्ता के अन्तर्गत आ सकता है, ऐसा भी लोक-साहित्य हो सकता है, जो लोकवार्ता नहीं माना जा सकता।'[५] यद्यपि 'फोक-लोर' (Folk-Lore) शब्द 'फोक-लिटरेचर' (Folk-Literature) से अधिक विस्तृत है, लेकिन कठिनाई तब उत्पन्न होती है

---

१. कन्नौजी लोक साहित्य - सन्तराम अनिल, पृ० २५
२. पृथिवी पुत्र - वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ० ८५
३. लोक साहित्य का सामान्य परिचय - डा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १६
४. हिन्दी अनुशीलन - पत्रिका - डा०सत्यव्रत सिन्हा, पृ० ३६
५. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन - डा० सत्येन्द्र, पृ० ५

अब `फोक लोर` का पर्याय `लोक-वार्ता` मान लिया जाता है । निश्चित रूप से `वार्ता` शब्द उस पूरे अर्थ को अभिव्यक्त नहीं कर पाता, जो `फोक-लोर` करता है, इसीलिए `लोक-वार्ता` `लोक-साहित्य` की अपेक्षा सीमित अर्थ देने लगता है। वैसे भी `वार्ता` शब्द का अर्थ हमारी परम्परा में कथा, वृत्तान्त या संवाद तक सीमित है, सम्भवत: इसलिए भी वह `फोक-लोर` (Folk-Lore) का पूरा अर्थ नहीं दे पाता है ।

`फोक-लोर` के लिए हिन्दी में एक और शब्द प्रयुक्त हुआ है - `लोक-संस्कृति` । `लोक-संस्कृति` के अन्तर्गत जन-जीवन से सम्बन्धित जितने आचार-विचार, विधि-निषेध, विश्वास, अनुष्ठान, प्रथा, परम्परा, धर्म, पूढ़ाग्रह आदि हैं, वे सभी आते हैं ।[१] अत: `फोक-लोर` के लिए `लोक-वार्ता` की अपेक्षा `लोक-संस्कृति` का प्रयोग अधिक समीचीन है । यदि इस दृष्टि से हम देखें तो निश्चित ही `लोक वार्ता` लोक-साहित्य से कहीं अधिक विस्तृत है । सोफिया बर्न ने `फोक-लोर` के क्षेत्र विस्तार के सम्बन्ध में `फोक-लोर` के विषय को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है --

(क) लोक-विश्वास और अंध परम्पराएं
(ख) रीति रिवाज तथा प्रथाएं
(ग) लोक साहित्य ।[२]

सोफिया बर्न ने `लोक-संस्कृति` का जो श्रेणी विभाग किया है,

---

१. लोक-साहित्य की भूमिका - डा० कृष्ण देव उपाध्याय, पृ० २०
२. सन्दर्भ - ब्रजलोक साहित्य का अध्ययन, डा० सत्येन्द्र, पृ० ४-५

उस पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'लोक-साहित्य', 'लोक-संस्कृति' का एक भाग है, उसका एक अंश है । लोक-संस्कृति की व्यापकता जन-जीवन के समस्त व्यापारों में उपलब्ध होती है, परन्तु लोक-साहित्य जनता के गीतों, कथाओं, गाथाओं, मुहावरों और कहावतों तक ही सीमित है । लोक-संस्कृति में ही लोक-साहित्य का अन्तर्भाव होता है ।

लोक-साहित्य के विभिन्न रूप

लोक-साहित्य और लोक-जीवन का अभिन्न सम्बन्ध है । आदिम मानव का योग तो इसमें है ही, साथ ही इसका अविच्छिन्न प्रवाह जगत्व्यापी है । जंगलों में गूंजते स्वर, खेती करते किसानों की गुनगुनाहट एवं अनेक अवसरों पर लोक-नृत्य की मस्ती भरी थिरक लोक-साहित्य में ही तो मिल सकती है । सामाजिक बदलाव के कारण यद्यपि इसके बाह्य कलेवर में भी परिवर्तन आ जाता है, लेकिन इसकी मूल चेतना यथावत बनी रहती है । लोक साहित्य का कोई एक रचनाकार नहीं होता या यूं कहें कि लोक-साहित्य श्रुति परम्परा पर ही आधारित होता है और रचनाकार प्राय: अज्ञात होता है । इसी वजह से इसमें प्रामाणिक मूल पाठ का भी अभाव होता है । यद्यपि लोक-साहित्य पर अभी उतना काम नहीं हो पाया है, फिर भी लोक-साहित्य का काफी कुछ साहित्य प्रकाशित हो चुका है, जिससे अब इसमें स्थिरता की काफी गुंजाइश हो गयी है ।

लोक-साहित्य सर्वसाधारण की अभिव्यक्ति है, ये लोग जो सोचते हैं, जिस विषय की अनुभूति करते हैं, उसी का प्रकाशन उनके साहित्य में पाया जाता है । प्रकृति में परिवर्तन के साथ उससे अपने सम्बन्धों को स्थापित करते हुए विभिन्न भावों की अभिव्यक्ति, अनुभवों पर आधारित हृदयगत विचारों का प्रकाशन और परस्पर सामाजिक सम्बन्धों का कथन, लोक-साहित्य के कुछ

ऐसे मौलिक तत्व हैं, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं हो सकते । लोक-साहित्य हमें अनेक रूपों में प्राप्त होता है, लेकिन प्रधानतया हम उसके पाँच विभाग कर सकते हैं --

(१) लोक-गीत (Folk-Lyrics)
(२) लोक-गाथा (Folk-Ballads)
(३) लोक-कथा (Folk-Tales)
(४) लोक-नाट्य (Folk-Dramas)
(५) लोक-सुभाषित (Folk-Sayings)

(१) लोक-गीत

लोक-साहित्य के अन्तर्गत लोक-गीतों का महत्वपूर्ण स्थान है । अपनी प्रचुरता और व्यापकता के कारण इसकी प्रधानता स्वाभाविक भी है । कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगीतों को पाँच प्रकार से विभाजित किया है[१] --

(१) विभिन्न संस्कारों पर गाये जानेवाले लोक-गीत
(२) रसानुभूति के लोक-गीत
(३) ऋतुओं औरव्रतों के अवसर पर गाये जानेवाले गीत
(४) विभिन्न जातियों के लोक-गीत
(५) श्रम-गीत ।

डा० मोहनलाल बाबुलकर ने भी यही वर्गीकरण किया है । पं० रामनरेश त्रिपाठी ने ग्राम-गीतों का वर्गीकरण निम्नलिखित श्रेणियों में किया है[२] -

---

१. लोक साहित्य की भूमिका - कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० ६१
२. कविता कौमुदी , भाग ५ - रामनरेश त्रिपाठी, पृ० ४५

(१) संस्कार सम्बन्धी गीत
(२) चक्की और चरखे के गीत
(३) धर्म गीत
(४) ऋतु सम्बन्धी गीत
(५) खेती के गीत
(६) भिखमंगी के गीत
(७) मेले के गीत
(८) जाति गीत
(९) वीर गाथा
(१०) गीत कथा
(११) अनुभव के वचन ।

उपर्युक्त वर्गीकरण पर यदि ध्यान दिया जाय तो इसमें अनावश्यक विस्तार लगता है, जबकि डा० उपाध्याय वाले वर्गीकरण में वैज्ञानिकता अधिक है । इधर डा० श्याम परमार ने 'भारतीय लोक साहित्य' में श्री भास्कर रामचन्द्र भालेराव के मत का उल्लेख करते हुए उनके द्वारा प्रतिपादित लोक-गीतों के भेदों का उल्लेख किया है । श्री भालेराव ने लोक-गीतों को चार श्रेणियों में विभक्त किया है[१] --

(१) संस्कार विषयक गीत
(२) माहवारी गीत
(३) सामाजिक ऐतिहासिक गीत
(४) विविध ।

---

१. भारतीय लोक साहित्य - श्याम परमार, पृ० ६४-६५

लोक-गीत जैसे एक `दैवी वाक्य` है जिसका न कोई निर्माता है, न स्वर-संघाता । वह जैसे मानव समुदाय में सहज ही स्वयं ही उद्धरित हो उठा है, और बिना प्रयास के ही सहज ही कण्ठ से कण्ठ पर उतरती हुई अपनी परम्परा स्थापित करता रहा है ।

(२) लोक-गाथा

जिस प्रकार काव्य का विभाजन-गीति-काव्य और प्रबन्ध-काव्य के रूप में किया जाताहै, उसी प्रकार लोक गीतों का विभाजन भी उनके वर्ण्य-विषय के आधार पर गेय-गीत (Lyrics) और प्रबन्ध-गीत(Ballads) इन दो भागों में किया जा सकता है । गेय-गीत वे छोटे-छोटे गीत हैं, जिनमें कथावस्तु का प्राय: अभाव होता है । उनकी गेयता ही इन गीतों की आत्मा है । इस श्रेणी के गीतों में संस्कार, ऋतु और व्रत सम्बन्धी गीत आते हैं, प्रबन्ध गीत वे हैं जिनमें कथावस्तु की प्रधानता रहती है । उसमें गेयता भी होती है, लेकिन कथानक को आगे बढ़ाने में जितनी गेयता आवश्यकहै, उतनी ही उसमें पायी जाती है । श्री सूर्यकरण पारीक ने `बैलेड` शब्द केलिए `गीत-कथा` का प्रयोग किया है ।[१]

बैलेड (Ballad) अथवा लोक-गाथा की परिभाषा अनेक विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है । न्यू इंगलिश डिक्शनरी के प्रधान सम्पादक डा० मरे ने बैलेड की परिभाषा देते हुए लिखा है कि `बैलेड वह स्फूर्तिदायक या उत्तेजना पूर्ण कविता है, जिसमें कोई जनप्रिय आख्यान रोचक ढंग से वर्णित है ।`[२]

---

१. राजस्थानी लोक गीत - सूर्यकरण पारीक, पृ० ७८-८५

२. न्यू इंगलिश डिक्शनरी, भाग ७ - डा० मरे, पृ० ३१०

डा० प्रयाग जोशी के शब्दों में -'लोक गाथाओं की कार्यशाला लोक परम्पराओं की जमीन में स्थापित होती है, उसकेसम्यक् रूप को समझे बिना लोकगाथा को समझने की समग्र दृष्टि नहीं पाई जा सकती । प्रत्येक लोक अपने में एक इतिहास समेटे रहती है, लोक गाथा के पात्र प्राय: जन सामान्य के ही बीच के वीर पुरुष, सती-नारी, आदर्श प्रेमी युगल आदि होते हैं । अपने सद्गुणों के उत्कर्ष से आदर्श स्थिति तक पहुंच जाने से इन पात्रों की स्मृति लोक मस्तिष्क पर सदा-सदा के लिए अंकित हो जाती है ।'[१]

लोक-गाथाओं में भारतीय संस्कृति के अनूठे चित्र विद्यमान रहते हैं । ये युग विशेष की परम्पराओं, रीति-नीतियों, कर्म व्यापारों आदि का दिग्दर्शन कराती हैं ।इनमें जीवन की सांगोपांग अभिव्यक्ति रहती है । लोक गाथाओं में घटनाओं का सहज, यथार्थ, परम्परागत, श्रव्य एवं गतिशील वर्णन रहता है । इनके पात्रों में आसुरी दुर्गुण अल्प किन्तु दैवीय सद्गुण प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहते हैं । गाथा के नायक नायिका प्राय: उदात्त गुणों से समावृत्त रहते हैं और समाज के समक्ष एक अनुपम आदर्श स्थापित करते हैं । लोक गाथाओं के अनेक भेद पाये जातेहैं । विषय वस्तु की दृष्टि से विभिन्न विद्वानों ने लोक-गाथाओं का वर्गीकरण अलग-अलग तरह से किया है । डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोकगाथाओं कोतीन भागों में विभक्त किया है[२] --

(१) प्रेम कथात्मक गाथाएं
(२) वीरकथात्मक गाथाएं
(३) रोमांच-कथात्मक गाथाएं

---

१. कुमाऊं गढ़वाल की लोक गाथाओं का विवेचनात्मक अध्ययन - डा० प्रयाग जोशी, पृ० ८१
२. लोक साहित्य की भूमिका - डा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १४७

फ्रांसिस गूमर ने लोक गाथाओं का वर्गीकरण निम्नांकित प्रधान छः श्रेणियों में किया है[१] --

(१) प्राचीन गाथाएं (Oldest Ballads) ये गाथाएं आकाश, पृथ्वी और ऋतुओं से सम्बन्धित हैं । ये ग्रीक में बनी और सबसे प्राचीन हैं ।

(२) कौटुम्बिक गाथाएं (Ballads of kinship) इन गाथाओं का सम्बन्ध कौटुम्बिक व्यस्त जीवन से है ।

(३) अलौकिक गाथाएं (Ballads of the super natural) - इन गाथाओं में जादू-टोना, भूत, परी और अंधविश्वासों का प्रतिबिम्ब होता है ।

(४) पौराणिक गाथाएं (Lefendary Ballads) - इन गाथाओं का सम्बन्ध प्राचीन आख्यानों से है ।

(५) सीमान्त गाथाएं (Border Ballads)- इनमें स्थानीय इतिहास की झलक के साथ सीमा सम्बन्धी घटनाओं का वर्णन होता है ।

(६) आरण्यक गाथाएं (Greenwood Ballads)- ये व्यक्ति विशेष के नाम पर चलने वाली गाथाएं हैं ।

इस प्रकार लोक-गाथाओं का विभाजन अनेक तरह से हुआ है । गाथाओं के साथ एक बात जो खास रूप से जुड़ी हुई है, वह यह कि इनमें संगीत और नृत्य का अभिन्न साहचर्य होता है, किसी वाद्य विशेष के साथ या गायन के साथ-साथ अंग-संचालन या नृत्य लोक-गाथाओं की प्रमुख विशेषता है ।

---

१. दि पापुलर बैलेड्स प्रो० फ्रांसिस गूमर, पृ० १३५-२८७
संदर्भ : लोक साहित्य की भूमिका, डा० कृष्णदेव उपाध्याय

(३) लोक-कथा

लोक-साहित्य के वर्गीकरण में लोक कथाओं का प्रमुख स्थान है । कथाएं प्राचीन काल से हमारे साहित्य को समृद्ध करती रही हैं, पूरा वैदिक साहित्य कथाओं से भरा पड़ा है । उदाहरण स्वरूप ऋग्वेद में ऋषि शुनःशेप का आख्यान, अपाला, आत्रेयी के नारी चरित्र और संवाद सूक्त में पात्रों का संवाद कथाओं की प्राचीन परम्पराओं की द्योतक हैं । इन्हीं कथाओं में च्यवन, भार्गव और सुकन्या मानवी की कथा मिलती है । ब्राह्मण ग्रंथों में भी अनेक कथाएं उपलब्ध होती हैं । `शतपथ ब्राह्मण` में पुरुरवा और उर्वशी की कथा नितान्त प्रसिद्ध है । संस्कृत में लोक कथाओं का सबसे प्राचीन संग्रह वृहत्कथा है । `पंचतंत्र` और `हितोपदेश` में नीति सम्बन्धी कथाओं का संकलन मिलता है ।

कहना न होगा कि कथाएं हमारी परम्परा में बहुत प्राचीन हैं और आज तक वे लोक कथाओं के या अन्य कथाओं के रूप में हमारी चेतना में विद्यमान हैं । ये कथाएं चिरकाल से हमारे जीवन का अंग बन गयी हैं ।

कथाओं के वर्गीकरण के आधार भिन्न-भिन्न माने गये हैं । शैली और विषय इनमें प्रमुख हैं । साधारण दृष्टि से वर्णनात्मक तथा अभिनयात्मक दो प्रकार की कथाएं मानी जाती हैं । लेकिन इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए कुछ प्राचीन और अर्वाचीन विद्वानों के मत का उल्लेख आवश्यक है । प्राचीन वर्गीकरण के अनुसार कथाओं को दो प्रकार से माना गया है -- (१) कथा - यानि जिसका जन्म कवि कल्पना हो, जैसे बाणभट्ट की `कादम्बरी` तथा दण्डी का `दशकुमार चरित` । (२) आख्यायिका - इसका आधार ऐतिहासिक इतिवृत्त होता है । जैसे बाण का `हर्षचरित` ।

प्राचीन वर्गीकरण के अतिरिक्त आधुनिक विद्वानों द्वारा भी कथाओं का वर्गीकरण किया गया है । डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक-कथाओं का वर्णन इस प्रकार से किया है[१] ---

१. उपदेश कथा
२. व्रत कथा
३. प्रेम कथा
४. मनोरंजन कथा
५. सामाजिक कथा
६. पौराणिक कथा

यद्यपि डा० सत्येन्द्र ने कहानियों को मुख्यत: (१) गाथाएं, (२)ख्यदान, (३) कहानियां - तीन भागों में बांटा है, तो भी साधारण दृष्टि से आपने कथाओं के आठ भाग किये हैं[२] ---

१. गाथाएं
२. पशुपक्षी सम्बन्धी अथवा पंचतंत्रीय
३. परी की कहानी
४. विक्रम की कहानी
५. बुफावल सम्बन्धी
६. निरीक्षण गर्भित
७. साधु पीरों की कहानियां
८. कारण निर्देशक कहानियां

---

१. लोक साहित्य की भूमिका - डा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० २६१
२. ब्रज लोक साहित्य का अध्ययन - डा० सत्येन्द्र, पृ० ८३

लोक कथाओं में सार्वभौमिकता मिलती है । किंचित हेर-फेर के साथ देश-विदेश में एक छोटी सी लोक कथा भी भिन्न-भिन्न रूपों में प्रचलित मिलती है । लोक कथाओं की इस विशेषता के कारण इनके वर्गीकरण में साम्य भी स्पष्ट दृष्टिगत होता है ।

(४) लोक-नाट्य

यद्यपि रंगमंच और नाटक शताब्दियों पूर्व से शास्त्रों का प्रतिपाद्य रहे हैं, लेकिन लोक-नाटकों की परम्परा भी कम प्राचीन नहीं है । लोक-रंगमंच लोक की अपनी वस्तु है । वह व्यवसायार्थ नहीं होता, इसके अखाड़े अवश्य होते हैं । लोक रंगमंच का नाट्य संगीतात्मक होता है । गेयता की इसमें प्रधानता रहती है, लेकिन इस गेयता का रूप शास्त्रीय नहीं होता है । यह सहज लोक-संगीत के तत्वों से युक्त होते हैं । नगाड़े जैसे लोक वाद्यों का इसमें उपयोग होता है । लोक से सम्बन्धित उत्सवों, अवसरों तथा मांगलिक कार्यों के समय इनका अभिनय किया जाता है । विवाह के अवसर पर अनेक जातियों में स्त्रियां बारात विदा हो जाने पर स्वांग का अभिनय करती हैं । चांदनी रात में बालकगण परम्परागत अभिनय प्रस्तुत करते हैं ।

भेद की दृष्टि से डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने लोक-नाट्यों को दो भागों में विभक्त किया है ।[१]

(१) प्रहसनात्मक - इसके अन्तर्गत किसी ऐसी घटना को अभिनय का विषय बनाया जाता है जिसे सुन तथा देखकर दर्शक हंसते हंसते लोट-पोट हो जायं । इसमें नृत्य का अभाव रहता है ।

---

१. लोक साहित्य की भूमिका - डा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १८०

(२) नृत्य नाट्यात्मक - इस तरह के लोक-नाट्य वे हैं, जो किसी सामाजिक अथवा पौराणिक घटना को लेकर अभिनीत किए जाते हैं । इनमें संगीत, नृत्य तथा अभिनय तीनों की प्रधानता होती है ।

डा० सत्येन्द्र ने लोक नाट्य के चार भेद बताये हैं [१] --

(१) नृत्य प्रधान
(२) नाट्य हास्य प्रधान
(३) संगीत प्रधान कथाबद्ध
(४) नाट्य वार्ता प्रधान

डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी ने कनउजी लोक-नाट्यों का वर्णन करते हुए उन्हें दश भागों में विभक्त किया है [२] --

(१) रासलीला, (२) रामलीला, (३) स्वांग, तमाशा, (४) नौटंकी, (५) नकारीरा, (६) भांड - भँड़ैत, (७) नट-कौतुक, (८) बहुरूपिया, (९) कठ-पुतली का खेल, (१०) आंशिक लोक नाट्य - भगत, कीर्तन, जाट, दंडउति आदि ।

इस प्रकार लोक-नाट्य कई रूपों में आज भी लोक-साहित्य को समृद्ध कर रहा है । लोक-नाट्य एक तरह से लोक का प्रतिबिम्ब भी कहा जा सकता है, क्योंकि बहुत सहज ही उसमें लोक की पारम्परीण अभिव्यक्ति होती है, वह किसी तरह की कृत्रिमता या तकनीक से दूर होता है । यदि उसमें कोई तकनीक

---

१. लोक साहित्य विज्ञान - डा० सत्येन्द्र, पृ० ४३१
२. कनऊजी लोक साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब - डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी, पृ० १०६

होती है, तो वह लोक ही है ।

(५) लोक-सुभाषित

लोक-साहित्य के जिन विभागों की चर्चा पीछे हुई है, उनमें लोक-मानस के उस स्वरूप की प्रतिष्ठा मिलती है, जिस स्वरूप में लोक मानस अपनी अभिव्यक्ति विस्तार के साथ करना चाहता है और जिसमें उसका आन्तरिक, आनुष्ठानिक और मनोरंजन परक अभिप्राय निहित है । किन्तु ऐसा भी साहित्य है जिसमें अभिव्यक्ति का इतना विस्तारनहीं, और जिसका अभिप्राय कथा अथवा गीत की तरह किसी बात को बात के आनन्द के लिए कहने की प्रवृत्ति में कम मिलता है । किन्तु जिसमें बहुत संक्षेप में कुछ व्यवहार विषयक बातों को प्रकट करने की प्रवृत्ति विशेष होती है । जिसमें कथा तत्व बहुत लघु होता है अथवा नहीं भी होता है । ऐसी रचनाओं को लोक सुभाषित की संज्ञा दी जा सकती है ।

ग्रामीण या लोक जनता अपने दैनिक व्यवहार में जिन लोकोक्तियों, मुहावरों, पहेलियों, सूक्तियों आदि का प्रयोग करती है, वह सब लोक सुभाषित कहलाता है । कृष्णदेव उपाध्याय ने तो लोरी, खेलगीत आदि को भी लोक सुभाषित के अन्तर्गत माना है --"बच्चा जब छोटा होता है, उसकी माता या धाय उसे पालने में सुलाकर लोरियांगाती हैं ।इन लोरियों का उद्देश्य मनोहर संगीत पैदा कर बालक को सुलाना है । बड़े होने पर बालक अनेक प्रकार के खेलों को खेलते समय विभिन्न गीत गाते हैं । जनता के जीवन में ये लोकोक्तियां पहेलियां, सूक्तियां, मुहावरे पालने और खेल के गीत बिखरे पड़े हैं, अत: इनको लोक-सुभाषित का नाम दिया गया है ।"[१]

लोक-साहित्य का अधिकांश भाग यद्यपि प्रकाश में आ चुका है, लेकिन अभी भी लोक-साहित्य बहुत कुछ बिखरा पड़ा है, जो प्रकाशित नहीं हुआ है ।

---

१. लोक साहित्य की भूमिका - डा० कृष्णदेव उपाध्याय, पृ० १८५

जितना प्रकाशित हुआ है, उसे ही सुविधा के लिए वर्गीकृत किया गया है । उसे ही दृष्टि में रखकर लोक साहित्य के विभिन्न रूपों का सामान्य परिचय ही ऊपर दिया गया है ।

लोक-साहित्य और सामाजिक जीवन मूल्य

लोक-साहित्य उस समाज से सम्बन्धित है, जो कि अपने आदिम संस्कारों के कारण नागरिक समाज से अलग-थलग है । लेकिन उस वर्ग के आपसी रिश्ते तथा उसके जीवन से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। लोक साहित्य में उस लोक-समाज जिससे कि वह सम्बन्ध रखता है, आशा-आकांक्षाओं, सुख-दुःख, अनुभूतियों आदि की अभिव्यक्ति कुछ इस तरह होती है कि वह यथार्थ और कल्पना के अपूर्व सामंजस्य के साथ समाज में प्रचलित मान्यताएं , विश्वास, मूल्य आदि को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से प्रस्तुत करता है ।

लोक साहित्य में जन-जीवन का जितना सच्चा और स्वाभाविक वर्णन उपलब्ध होता है, उतना अन्यत्र नहीं । सच तो यह है कि यदि किसी समाज का वास्तविक चित्र देखना हो तो उसके लोक-साहित्य का अध्ययन करना चाहिए । लोक कवि समाज को जिस रूप में देखता है, उसका उसी रूप में वर्णन करता है । अतः उसका वर्णन सत्य से दूर नहीं होता । इतिहास की बड़ी-बड़ी पोथियों में लड़ाई झगड़ों और संघर्षों का विस्तृत विवरण भले ही मिल जाय, परन्तु समाज के यथातथ्य चित्रण के लिए लोक साहित्यका अनुसंधान वांछनीय ही नहीं, अनिवार्य भी है । लोक गीतों, कथाओं और गाथाओं में मनुष्यों के रहन-सहन, आचार-विचार, खान-पान और रीति-रिवाजों का सच्चा चित्र देखने को मिलता है । इन गीतों में जहां प्रेम और वात्सल्य का वर्णन होता है वहां विरोध और संघर्ष का भी चित्रण हुआ है । हजारीप्रसाद द्विवेदी ने तो यहां तक कहा है --`ग्राम-गीतों का महत्व उनके काव्य सौन्दर्य तक ही

सीमित नहीं है। इनका एक बहुत ही महत्वपूर्ण कार्य है - एक विशाल सभ्यता का उद्‌घाटन जो अब तक या तो विस्मृति के समुद्र में डूब गयी या गलत समझ ली गयी ।[१] कहने का आशय यह है कि लोक में व्याप्त जितने भी आचार-विचार, रीति-नीति या मूल्य हैं, वे लोक-साहित्य में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं । अब सामाजिक जीवन-मूल्य की चर्चा भी आवश्यक है, जो लोक साहित्य में अनायास ही अभिव्यक्त होता है ।

जीवन-मूल्य केवल `आर्ट आफ लिविंग` या `वे आफ लिविंग` ही नहीं है, बल्कि उसमें एक ओर जीवन में काम आनेवाले उपयोगी तत्व निहित होते हैं, वहीं दूसरी ओर हमारी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक धार्मिक, आचार-संहिताएं भी निहित होती हैं ।

सभ्यता तथा संस्कृति दोनों मनुष्य की सृजनात्मक क्रिया के कार्य या परिणाम हैं । जब यह क्रिया उपयोगी लक्ष्य की ओर गतिमान होती है, तब सभ्यता का जन्म होता है और जब वह मूल्य चेतना को प्रबुद्ध करने की ओर अग्रसर होती है, तब संस्कृति का उदय होता है । संस्कृति का सम्बन्ध मानव के उन वैयक्तिक और सामाजिक कार्यों की अभिव्यक्ति है, जिनके द्वारा मानवता को पशुत्व से मुक्ति मिलती है ।

संक्षेप में `किसी देश या समाज में विभिन्न जीवन व्यापारों, सामाजिक सम्बन्धों और मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले तत्वों की समष्टि को संस्कृति कहा जा सकता है ।

Diss
Y;351.445237N
152Nij

---

१. जनपद - लोक साहित्य का अध्ययन - हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ० ५५

TH-5333

असल में संस्कृति जिन्दगी का ही एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है जिससे हम जन्म लेते हैं। व्यापक अर्थ में मानवीय जीवन यापन की समग्र व्यवस्था को संस्कृति समझा जा सकता है। इसमें ज्ञान, विश्वास, शिल्प कलाएं, अर्थकलाएं, नैतिकता, नियम, रीति रिवाज तथा वे सभी अन्य योग्यताएं समाविष्ट हो जाती हैं जिन्हें व्यक्ति समाज का सदस्य होने के नाते ग्रहण करता है। संस्कृति को ही समानान्तर रूप से हम उस समाज के जीवन-मूल्यों से सन्दर्भित कर सकते हैं, जिससे सम्बन्ध है।

जीवन-मूल्य ही संस्कृति को इतिहास से पृथक करते हैं। इतिहास कालक्रम की चेतना है, जबकि संस्कृति काल के माध्यम से कालातीत होने की प्रक्रिया है, जो मूल्यों के आगे बढ़ने की सम्भावनाओं पर ही दृष्टि विकसित होती है। संस्कृति जीवन मूल्यों के विकास की सम्भावनाओं को जीवित रखने की प्रक्रिया है, इसीलिए जीवन-मूल्यों की चर्चा करते समय संस्कृति के स्वरूप को व्याख्यायित करना आवश्यक था।

मूल्य व्यक्ति कृत की अपेक्षा कहीं अधिक समाज द्वारा आरोपित होते हैं। सामाजिक दृष्टि से मूल्यों को उस निकष पर परखा जाता है, जिसके द्वारा समुदाय या समाज, व्यक्तियों, पद्धतियों, उपलब्धियों तथा अन्य उद्देश्यों का निर्णय करता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि निश्चित उद्देश्य जो समाज में व्यक्तियों द्वारा निर्णीत किये जाते हैं - सामाजिक मूल्य कहलाते हैं, साथ ही मूल्य एक ऐसा मापदण्ड है, जो सम्पूर्ण संस्कृति एवं समाज को अर्थ एवं महत्ता प्रदान करता है। परस्पर सामाजिक सम्बन्ध के कारण व्यक्ति का व्यक्ति से एवं समाज से घनिष्ठ नाता होता है। और इसी के फलस्वरूप उसका उन

पर नियंत्रण है एवं उन्हें कार्यान्वित करने के लिए सामाजिक मूल्य सहायक हैं ।

डा० हुकुमचन्द ने जीवन मूल्यों की चर्चा करते हुए लिखा है -- 'सामाजिक दृष्टि से जीवन-मूल्यों को सामान्यत: दो भागों में विभाजित किया जाता है -- वैयक्तिक मूल्य एवं सामाजिक मूल्य । वस्तुत: वैयक्तिक एवं सामाजिक मूल्यों को दो भागों में विभाजित करने पर इनके मध्य कोई ऐसा खींचना सम्भव नहीं है, क्योंकि वैयक्तिक मूल्यों को जब व्यक्ति की सीमा से परे समाज में देखने का प्रयास किया जाता है, तो वही मूल्य सामाजिक मूल्य कहलाते हैं ।[१] वस्तुत: हमारा सम्पूर्ण जीवन 'क्या है' और 'क्या होना चाहिए' इन दो सीमाओं से सम्बद्ध रहता है, जो है वह तथ्य है, तो जो होना चाहिए वह मूल्य है । जीवन के संदर्भ में यही बात है कि हमारा जीवन सदैव 'है' की स्थिति से उठकर 'होना चाहिए' की उपलब्धि की ओर बढ़ता है और इसी के मूल में जीवन की जो गतिशीलता कार्य के रूप में व्यंजित होती है, उसे ही मूल्य कहा जा सकता है ।

सामाजिक जीवन-मूल्यों के बनने में जहां एक ओर देशकाल तथा जाति विशेष की पौराणिक कथाएं, धार्मिक विश्वास प्रभाव डालते हैं, वहीं दूसरी ओर भौतिक परिस्थितियां भी उसकी कारक होती हैं ।

लोक-साहित्य ऐसा साहित्य है जिसमें सामाजिक जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति आत्यन्तिक रूप से होती है । लोक-साहित्य के अध्ययन से सम्बद्ध लोक समाज के मूल्य, मान्यताएं, विचार और संस्कृति का परिचय आसानी से प्राप्त किया जा सकता है । क्योंकि उसके निर्माण में किसी तरह का बौद्धिक प्रयास नहीं होता, बल्कि लोक-साहित्य में लोक-हृदय की सहज अभिव्यक्ति है ।

---

१. आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य - डा० हुकुमचंद राजपाल, पृ० ५४

लोक साहित्य का विकास-क्रम और गढ़वाली लोक साहित्य

यदि यह कहा जाय कि 'लोक-साहित्य' उतना ही प्राचीन है जितना मानव, तो कोई अत्युक्ति न होगी । क्योंकि लोक साहित्य ऐसा साहित्य है, जो मनुष्य की आदिम अभिव्यक्ति और कार्य-व्यापारों से जुड़ा हुआ है । अत: मनुष्य जब अस्तित्व में आया, तब उसने अपने सुख-दु:ख, हर्ष-उल्लास और प्रकृति के साथ अपने सम्बन्धों को जिन रूपों में व्यक्त किया, वही साहित्य बन पड़ा । उसके बाद जब मनुष्य कुछ विकसित हुआ, तब समाज में एक व्यवस्था और शिष्ट संस्कृति की आवश्यकता पड़ी । अत: शिष्ट साहित्य की रचना हुई ।

प्राचीन भारतीय साहित्य के अवलोकन से भी पता चलता है कि वैदिक युग से ही भारत में साहित्य की दो धाराएँ प्रवाहित हो रही थीं -- एक शिष्ट साहित्य की, दो लोक साहित्य । इसे यूं भी कह सकते हैं कि ये दो संस्कृतियाँ समानान्तर रूप से विकसित हो रही थीं, शिष्ट साहित्य से मेरा तात्पर्य उस अभिजात साहित्य या संस्कृति से है, जो बौद्धिक विकास के उच्चतम शिखर पर पहुंचा हुआ था । जो अपनी प्रतिभा के कारण अग्रणी और पथ-प्रदर्शक था तथा जिसकी संस्कृति का स्रोत वेद या शास्त्र था ।

लोक-साहित्य से तात्पर्य जन साधारण की उस संस्कृति से है, जो अपनी प्रेरणा लोक से प्राप्त करता था । वह बौद्धिकता के उस धरातल पर स्थित था, जिसमें सामान्य जन की आकांक्षाओं और इच्छाओं की जन-भाषा में अभिव्यक्ति होती थी जिसमें जटिलता कम और भावात्मकता अधिक होती थी ।

ये दो साहित्य दो संस्कृतियों की अभिव्यक्ति हैं । लोक संस्कृति शिष्ट संस्कृति की सहायक होती है । किसी देश के धार्मिक विश्वासों,

अनुष्ठानों तथा क्रिया-कलापों के पूर्ण परिचय के लिए दोनों संस्कृतियों का अध्ययन अपेक्षित रहता है । इस दृष्टि से अथर्ववेद ऋग्वेद का पूरक है । ये दोनों संहितायें दो संस्कृतियों के स्वरूप की परिचायक हैं । अथर्ववेद लोक संस्कृति का परिचायक है, तो ऋग्वेद शिष्ट ।

उपनिषद काल में भी दोनों संस्कृतियां स्पष्ट रूप से विद्यमान थीं और लोक साहित्य तथा शिष्ट साहित्य उनका प्रतिनिधित्व कर रहा था । जिन उपनिषदों में आत्मा, परमात्मा, जीव, जगत, ब्रह्म आदि का वर्णन है, वे अभिजात संस्कृति के ग्रन्थ हैं । परन्तु जिनमें लोक जीवन का वर्णन है, लोक विश्वास तथा लोक परम्पराओं का उल्लेखहै, उनका सम्बन्ध निश्चय ही लोक संस्कृति से है। गुह्य सूत्र ऐसे ही ग्रन्थ माने जा सकते हैं । पालो जातकों में भी लोक संस्कृति का सजीव चित्रण किया गया है ।

अत: कहा जा सकता है कि शिष्ट साहित्य के समानान्तर ही लोक-साहित्य भी प्रवाहित होता रहता है । लोक-समाज में परिवर्तन के साथ-साथ उसमें भी किंचित परिवर्तन आता जाता है और उसकी यात्रा मानव के साथ समान रूप से चलती रहती है ।

गढ़वाली लोक साहित्य के बारे में भी यही कहा जा सकता है कि अपने नैसर्गिक प्रवाह के कारण आज जिस रूप में वह उपलब्ध होता है, उसमें कई शताब्दियों का इतिहास और संस्कृति की गतिमान धारा समाहित है । गढ़वाल की ऐतिहासिक परम्परा में यक्ष, किन्नर, नाग, किरात, कोल, खश, आर्य आदि अनेक जातियों का उल्लेख मिलता है तथा यहां की भाषा और संस्कृति पर सभी अपना थोड़ा बहुत प्रभाव छोड़ गये हैं । यहां के लोक-गीतों और लोक गाथाओं में अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं, जिनसे इस बात

की पुष्टि होती है कि कभी गढ़वाल में ये लोग रहे थे ।

गढ़वाली लोक साहित्य का अभी बहुत कम भाग प्रकाशित हो पाया है । अनेक ऐसी गाथाएं और कथाएं अभी बिखरी पड़ी हैं, जो गढ़वाली संस्कृति के अध्ययन में अत्यधिक सहायक हो सकती हैं ।

द्वितीय अध्याय

गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य

गढ़वाली लोक-गाथाओं का सामान्य परिचय

गढ़वाली लोक गाथाएं गढ़वाल के लोक साहित्य की अक्षय धरोहर हैं, लेकिन आज जिस रूप में वे उपलब्ध हैं, या तो विशेष अनुष्ठान विषयक सन्दर्भ बन गई हैं या लुप्त होती जा रही हैं। इनमें धार्मिक, पौराणिक जागर गाथाएं, पूजा धड़्याला के अवसर पर जागरी पुरोहितों के द्वारा देवता का आह्वान और नर्तन के लिए गायी जानेवाली गाथाएं आदि सभी तरह की गाथाएं हैं। इसके अतिरिक्त आवजी - वागजी अथवा पुराने चंफ्या हुड़क्या भी ये गाथाएं गाते हैं। आवजी वादक ढोल दमाऊ बजाते हुए देवता की पूजा में इन गाथाओं के माध्यम से किसी विशेष व्यक्ति पर देवता का प्रवेश कराकर उसे नचाते हैं तथा चैत्र मास में सवर्णों के घर द्वार में गाथाएं गाते हुए स्वयं भी नाचते हैं। इन लोक गाथाओं के गाने वाले वर्ण्य-विषय और जाति के अनुसार भिन्न-भिन्न वाद्यों का प्रयोग करते हैं, आवजी लोग साधारणत: ढोल दमाऊ बजाते हैं। देवता की पूजा के अवसर पर जागरी पुरोहित जिस वाद्य का प्रयोग करता है, उसे धड़्याल कहा जाता है। डमरू और थाली के साथ समवेत वाद्य वादन को धड़्याल कहा जाता है। जागरी ब्राह्मण प्राय: देवता भूत-प्रेत अथवा आंछरियों (परियों) की मनौती की गाथा ही गाता है। आवजी (हरिजन) देवताओं के अतिरिक्त चैत के महीने में चैती-गाथाएं गाते हैं।

रचना-काल की दृष्टि से गढ़वाली लोक-गाथाएं बहुत प्राचीन हैं। जागर पूजा की परम्परा गढ़वालके आदिम निवासियों से सम्बन्धित है।

जागर गाथाओं में राम, कृष्ण, देवी, कद्रू-बनिता, पांडव, गोरील, निरंकार (निराकार) रमोल आदि कई धार्मिक और पौराणिक गाथाएं सम्मिलित हैं, जो सभी एक ही काल में तो नहीं रची गयीं, लेकिन समयान्तर में कई गाथाएं जुड़ती चली गयीं। वीरों को देवता के रूप में पूजने की प्रजा बाद में शुरू हुई जिनकी शुरुआत मध्यकाल में हुई। डा० गोविन्द चातक ने ऐसी गाथाओं का समय ८०० ई० से १७०० ई० माना है।[१]

लोक गाथाएं केवल गातात्मक काव्य नहीं हैं, बल्कि उनमें संस्कृति और इतिहास के वे बिन्दु भी होते हैं, जो एक सामाजिक सभ्यता के निर्माण के मूल में होते हैं। इसलिए वहां कभी-कभी काल्पनिक घटनाएं ऐतिहासिक रूप ले लेती हैं तो कभी ऐतिहासिक घटनाएं कल्पनाजन्य अभिव्यक्ति के रूप में उस समाज विशेष की सृजनात्मक भावना की पहचान बन जाती हैं। इसलिए उनका प्रामाणिक और अप्रामाणिक होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है, जितना कि उनके पीछे की वे मान्यताएं या मूल्य, जो गाथा विशेष में अन्तर्गठित होते हैं।

मौखिक परम्परा में जीवित कथाओं के इतिहास की छाया को प्राचीन युग में देखा जा सकता है किन्तु मौखिक परम्परा में जन-सामान्य की गेय लोक कथाएं प्रत्येक युग की छाप लेकर इतिहास को कल्पना के धुंधलेआवरण में छिपाकर न जाने कितने युगों से प्रवाहित होती चली जा रही हैं। इन गीत कथाओं में युग का प्रभाव व्यंजित अवश्य होता है, किन्तु उनकी मूल प्रवृत्ति में किसी भी प्रकार का अन्तर नहीं आने पाता। विगत में समाज की

---

१. भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्य हिमालय - गोविन्द चातक, पृ० २४४

सरल व्यवस्था एवं कृषि जीवन में व्याप्त वेदना, विपत्ति एवं शोक की जो भावनाएं अनुभव की गयी हैं, उनका आभास इन गाथाओं में देखने को मिलता है । इन गाथाओं में जीवन के संघर्ष, जय, पराजय एवं उत्साह के स्वर भी मिलते हैं ।

लोक रुचि ने अपनी भावनाओं को अक्षुण्ण रखने के लिए इतिहास का आधार अवश्य ढूंढ़ा है - किन्तु असाधारण पुरुष से सामान्य व्यक्ति का सम्बन्ध जोड़ने की चेष्टा में युगों-युगों के तीव्रगामी प्रवाह में जन-मानस की स्मृति इतिहास को सुरक्षित रखने में सतर्क न रह सकी एवं शनैः शनैः इतिहास और व्यक्ति के नामों में कल्पना मिश्रित हो गयी । इन गाथाओं में घटना, कथा-वस्तु और पात्र, धार्मिक विश्वास और जनमानस की मनो-वैज्ञानिक अभिव्यक्ति के साधन तो होते ही हैं, जीवन यापन करनेकी विधि एवं गौरवमय जीवन निर्माण कर जीवित रहने का मार्गदर्शन भी होता है ।

गढ़वाली लोक गाथाएं जीवन की विभिन्न घटनाओं को लेकर रची गयी हैं । इनमें वीर पूजा का भाव भी सुरक्षित है, जहां मानवीय भाव, विकास एवं सहज आदिम स्वरुप देखा जा सकता है, वहीं मध्यकालीन क्रूरता एवं ध्वस्त संस्कृति के अवशेष भी देखे जा सकते हैं । इसके साथ ही महाकाव्यों एवं प्रबन्ध काव्यों के विकसित रूप का प्रारम्भिक एवं मूल स्वरुप इन लोक-गाथाओं में दृष्टिगोचर होता है ।

विषय वस्तु और परम्परा के आधार पर गढ़वाली लोक गाथाओं को निम्न रूप से वर्गीकृत किया जा सकता है --

हरिदत्त भट `शैलेश` का वर्गीकरण[१] --

१. लौकिक गाथाएं (पंवाड़ा)
२. पौराणिक गाथाएं (जागर)

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० १८०

लौकिक गाथाओं के भी उन्होंने दो विभाग किए हैं --

(क) वीर गाथाएं

(ख) प्रेम गाथाएं

पौराणिक गाथाओं को तीन भागों में बांटा गया है --

(क) कृष्ण सम्बन्धी गाथाएं

(ख) स्थानीय देव गाथाएं

(ग) पांडव सम्बन्धी गाथाएं

डा० मोहनलाल बाबुलकर का वर्गीकरण[१] --

डा० मोहनलाल बाबुलकर ने गढ़वाली लोकगाथाओं को विषयवस्तु तथा आकार एवं गायन पद्धति की भिन्नता के आधार पर अलग-अलग वर्गीकृत किया है ।

(क) विषयवस्तु के आधार पर

१. देवगाथाएं (जागर, वार्ता, बाजे)

कृष्ण चरित्र	निरंकार	पंडौ
रुक्मणी	गरुड़ासान	अर्जुन नागलोक-
चन्द्रावली	भैरों, नरसिंह	कथा
शिवपार्वती	हंसा, आंछरी	भीम
बैकुंठ चतुर्दशी	देवी,	नकुल
		सहदेव
		द्रोपदी
		कुंती

१. गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन - डा० मोहनलाल बाबुलकर, पृ० ६०

२. लोक गाथाएं

ऐतिहासिक पुरुष	ऐतिहासिक - अनैतिहासिक स्थानीय पुरुष	वीरांगनाएं
१. मानसाह		जोहर माला
२. अजयपाल	सुरजू कुंवर	पत्थर माला
३. मालूसाही	कफू चौहान	ध्यान माला
४. जगदेव	गढ़ू सुम्माल	चन्द्रावती
५. राजा प्रीतमदेव	कालू भण्डारी	सुरमा
	मालू रज्वा	सुक कुमैण
	बरमी काल	नौरंगी राजुला
	जीतूबगड़वाल	बरुणा
	हंसा कुंवर	अमरावती
	गंगू रमोला	
	रणू रौत	
	घामदेव	
	मानु मफिला	
	हिंहा हिंडवाण	
	आदि ।	

(ख) आकार एवं गायन पद्धति के आधार पर

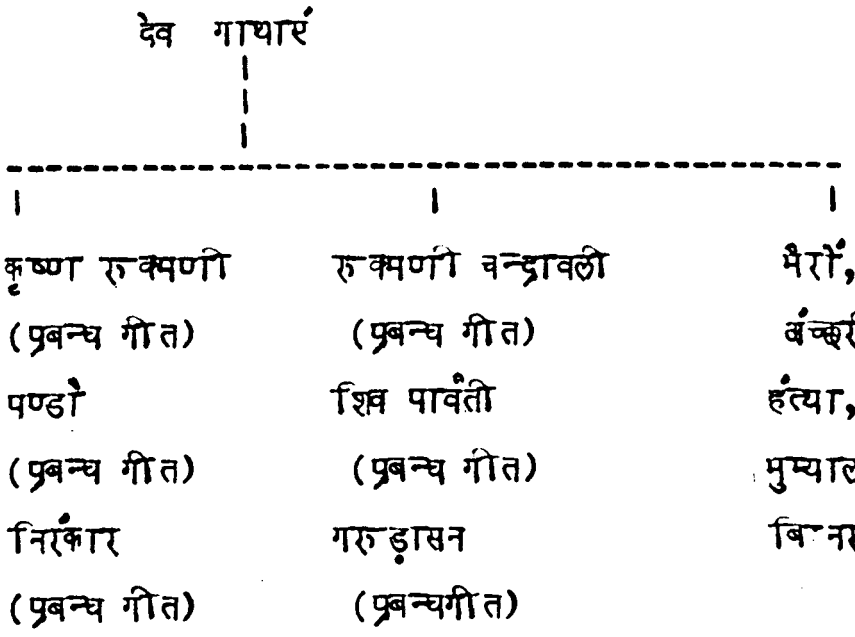

डा० गोविन्द चातक का वर्गीकरण[१] --

१. जागर गाथाएं (जिन्हें धार्मिक गाथाएं भी कहा जा सकता है)
२. पंवाड़े अर्थात् वीर गाथाएं
३. प्रणय गाथाएं
४. चैती गाथाएं (चैत्र मास में आवजीयों द्वारा गायी जाने वाली गाथाएं)

वर्ण्य विषय की दृष्टि से उपर्युक्त वर्गीकरण की गाथाएं बहुत भिन्न नहीं हैं । अन्तर केवल भावना का है । उदाहरण के लिए प्रणय, ऐसा तत्व है जिसका समावेश धार्मिक गाथाओं, वीर गाथाओं तथा चैती गाथाओं सभी में कमोवेश मिल जाता है । किन्तु धार्मिक गाथाओं का मुख्य केन्द्र धर्म

---

१. भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्य हिमालय - डा० गोविन्द चातक, पृ० २४३

है, प्रणय नहीं । इसी प्रकार वीर गाथाओं में प्रणय के प्रसंग आते हैं, किन्तु उनका मुख्य उद्देश्य वीरता का चित्रण है, यही बात वैती गाथाओं के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है कि वे मुख्य रूप से नारी के उत्पीड़न, मायके की याद आदि भावों को व्यक्त करती हैं ।

गढ़वाली लोक गाथाओं में अभिव्यक्त सामाजिक जीवन-मूल्य

सामाजिक जीवन-मूल्यों की जब हम बात करते हैं तो हमारा अभिप्राय उस विशेष समाज की सामूहिक मान्यताओं और विचारगत सम्बन्धों से होता है जो किसी विशेष भू-भाग में अपनी परम्पराओं और संस्कारों के चलते सामुदायिक रूप में रह रहा है । हर समाज के अपने नैतिक दायित्व, अपनी आचार पद्धति और जीवन-मूल्य होते हैं, जिन पर वह टिका होता है । इसमें समाज व्यवस्था की ही नहीं सामाजिक मनोविज्ञान की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है । समाज और संस्कृति व्यक्तियों में समय-समय पर अपने अनुरूप कई स्थायी भाव विकसित करते हैं । इससे सहज प्रवृत्तियों के उन्नयन पर बल देते हुए सामाजिक मूल्यों और वर्जनाओं को निर्धारित करने का प्रयास कई लोक गाथाओं में हुआ है । डा० गोविन्द चातक के शब्दों में -"जिन लोक-गाथाओं में ऊंचे आदर्शों पर बल दिया गया है, वह थोपी हुई वस्तु नहीं, बल्कि समाज की परीक्षण प्रक्रिया का ही एक अंग है ।"[१] नारी को भगाकर ले जाने की अपेक्षा उसके लिए लड़ना ही मध्यकालीन आदर्श था और इस आदर्श की प्रेरणा देने वाली स्वयं नारी थी । ब्रह्म कुंवर जब पत्थरमाला का अपहरण करने के लिए नागभूमि में पहुंचता है तो वह उसे नाग की अनुपस्थिति

---

१. भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्य हिमालय - डा० गोविन्द चातक, पृ० २३३

में भाग चलने का परामर्श देता है, किन्तु पत्थरमाला उसे अपनी बात से निरुत्तर कर देती है । `नारी चोर कर नहीं ले जायी जाती` ।

एक अन्य गाथा में उन्मत्त और असामाजिक प्रेम की कथा है, इस गाथा में विलास ही साध्य होने के कारण उसका दुष्परिणाम दिखलाया गया है -

`बावरो नि सेंदू जीतू नि होंदू विणास`[१]

अन्य गाथाओं की अपेक्षा पंवाड़े सामाजिक और राजनैतिक जीवन का अधिक प्रतिनिधित्व करते हैं । वस्तुत: मध्ययुग जबकि पंवाड़े रचे गये शूरवीरता का और प्रतिद्वन्द्विता का युग था, और शौर्य के सारे आदर्श पुरानी आन-बान, कुल के अहंकार, पीढ़ियों से चले आते वैमनस्य, राज्य लिप्सा और सुन्दरियों के रूपाकर्षण से परिचालित थे । मध्यकालीन आदर्शों में नारी के सतीत्व को भी महान आदर्श समझा जाता था, सभी स्त्री के सतीत्व को युद्ध में पुरुषा का रक्षक भी समझा जाता था -

हे जिया, मैं मा सच्ची बात बोल ।
जु मैं अपना माता पिता कु छंऊ त रण मां जांदू ।
जु मैं तन्में छंऊं त मारेण कु नी जांदू ।।[२]

लोक का सबसे बड़ा आदर्श सम्भवत: समाज में एक दूसरे के लिए, एक दूसरे के साथ जीने में निहित है । इसी आदर्श को लेकर कई गाथाएं सामुदायिक जीवन के बीच उभरी हैं, इसलिए गढ़वाली लोकगाथाओं में पारस्परिक सहयोग और सामाजिक सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है ।

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० १८८

२. भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्य हिमालय : गोविन्द चातक, पृ० ३०६

इन लोक गाथाओं में युग और समाज का सांगोपांग चित्र मिलता है । उनमें एक ओर मानव की अलौकिक निष्ठा, वीरता, साहस, बलिदान, प्रेम और उदारता का उज्ज्वल पक्ष वर्णित हुआ है, दूसरी ओर ईर्ष्या, द्वेष, कलह आदि मानव हृदय के दुर्बल पक्षों तथा सामाजिक अनाचारों का समान रूप से यथार्थ चित्रण भी हुआ है । जिन पौराणिक गाथाओं में रोमानी तत्व का समावेश हुआ है, उनसे समाज की रसिक प्रवृत्ति का आभास मिलता है किन्तु विलास की अतिवादिता का पक्ष उस भोगवादी संस्कृति की ओर संकेत करता है, जो बहु विवाह जैसे ध्वस्त मूल्यों को नैतिकता का आवरण पहनाकर समाज की स्वीकृति प्राप्त कर लेता है ।

सामाजिक विषमता, अभाव और आचारगत कठोरता लोक जीवन की वास्तविकता के साथ सहज सम्पृक्ति के रूप में इन लोक-गाथाओं में स्थान पा गये हैं । एक ओर जहां अकाल पीड़ित निम्नवर्ग की विवशता, दैन्य और भूख का वर्णन है -

हिंडवाणी कोट मां कन तराइं मचीगे
रोंदा इन बबरांदा भूखन नांना
देखो - देखीक जिकुड़ी चिरैंदी ।[१]

\+ \+

खिमसारी दृष्ट मां पड़ो अकाल
तड़पी-तड़पी मरीन लोग उखड़ सा माछा
स्वागीण रांड ह्वेन, कोली मां मरीन बाला,
ज्वानि निभुच्यां कैन जिन्दगी नी भोगी ।[२]

---

१. `भानु मौंपिलो` गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २०८-२०९

२. गढ़ सुम्याल गाथा - वही, पृ० २१९

वहीं दूसरी ओर सेठ, साहूकार या सामंतों की विवशता जन्य स्थिति पर भी कटाक्ष किया गया है । अकाल की भयंकर विवशता के बावजूद भी हिंसा हिंडवाण अपने सामंती अहं को नहीं छोड़ पाता और जब उसकी ऐश्वर्य और विलास की आवश्यकतायें पूरी नहीं होतीं तो वह साधारण जीवन जीने के बजाय स्वयं के साथ अपने परिवार को विष देकर मार डालता है ।

बड़ो आदमी छ:यो हिंसा हिंडवाल
वैकू शरम ऐगे, अपणा आंसू पीगे,
कैमु अपनी विपता क्या लाण
कैमु मीन अब मंगणक जाण ?
मिठो जैर डाली, दिने बत्तीस कुटुम
तन बत्तीसो कुटुम बैक स्वर्गवास ह्वेगे।[१]

इसी गाथा में सामन्ती मूल्यों के पराभव के संकेत भी मिल जाते हैं । हिंसा हिंडवाण का पुत्र मानु मौंपिलो जब मामा के घर से लौटता है तो अपने पूरे परिवार को मृत पाकर उसे मिथ्या अहं के प्रति वितृष्णा होती है और वह अपने राजसी जीवन को छोड़कर सुजू का नौकर बनने को तैयार हो जाता है --

बणाये मालू की फगुली, मालू की टोपली
तब उतार्‌यां वैन राजा क कपड़ा
छोड्यालो तब वैन हिण्डवाणो कोट ।

+ +

---

१. मानु मौंपिलो गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २०८

किस्मत कू मारो छऊं विपता को हारो
आज वप्यूं छऊं तेरो घास कारदारो ।[१]

गढ़वाली लोकगाथाओं में धार्मिक विश्वास, राजनैतिक-मूल्य और लोक में प्रचलित संस्कृति के अंश अपनी सम्पूर्ण एकान्विति के साथ लोक-जीवन की व्याख्या करते हैं । कहीं अनैतिक सम्बन्धों को धार्मिक स्वीकृति देकर उसे नैतिक बनाने की कोशिश होती है, तो कहीं परम्परागत मान्यताओं की उद्भावना लोक के सरल और निष्कपट जीवन की झांकी प्रस्तुत करती है । `रुक्मणी चन्द्रावली` गाथा में रुक्मणी चन्द्रावली तक पहुंचने के लिए कृष्ण को `फेक्वाल` बन जाने के लिए कहती है । योगी या महात्मा नहीं, बल्कि जनपदीय परम्परा का फेक्वाल, जो सीधे-सीधे चन्द्रावली तक पहुंच सकता है ।

दरअसल फेक्वाल लोक जीवन में स्त्रियों के अधिक निकट पाये जाते हैं । हाथ देखना, भाग्य बताना, पति के विषय में पूछना, सभी विषयों पर फेक्वाल स्त्रियों को बताते हैं । जनपदीय बैणी (बहिन) शब्द का प्रयोग कर फेक्वाल स्त्रियों के बीच स्वतंत्रतापूर्वक आ जा सकता है ।

इन गाथाओं में मध्यकालीन मूल्यों की ही अधिक अभिव्यक्ति हुई है । लेकिन समय के साथ लोकानुभव और बाद के अनेक धार्मिक, राजनैतिक प्रभाव भी इन गाथाओं में जुड़ गये हैं । जान पड़ता है कि उत्तरी भारत की ऐसी लोक गाथाओं का निर्माण अधिकतर उस युग में ही हुआ होगा जब बाहर से आकर मुस्लिम जाति अपना प्रभाव क्रमशः जमाने लगी थी और यहां की राजनीति एवं सामाजिक स्थिति में उथल-पुथल थी । स्थानीय बोलियों ने भी ऐसी ही

---

१. भानु भंपिलो गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २०६

रहते हैं । इसलिए आर्थिकआधार पर गढ़वाली समाज में आत्यन्तिक विषमता प्रतीत नहीं होती है । इसका एक और कारण यह भी हो सकता है कि वहां पर जमींदारी प्रथा का न होना और औद्योगिक पूंजीवाद की आर्थिक जीवन में घुसपैठ नहीं है । अत: सम्पत्ति और व्यवसाय पर आधारित प्रतिष्ठा गढ़वाली लोक समाज में नगण्य ही है ।

प्रतिष्ठा का आधार कुल जाति और वैवाहिक सम्बन्ध मात्र है और परस्पर नाते-रिश्तों की वहां पर सामाजिक जीवन के रूप में काफी अहमियत है । वहां के ब्राह्मणों, राजपूतों और हरिजनों में न जाने कितनी पीढ़ियों से बोलचाल के रिश्ते चले आ रहे हैं । ब्राह्मण जब क्षत्रियों और डोम (हरिजन) को चाचा, भाई, ताई आदि सम्बोधनों से सम्बोधित करता है तो वह एक पूरी सामाजिक मान्यता को भी प्रस्तुत करता है । वास्तव में समाज के सामुदायिक सूत्र इसी प्रकार की आत्मीयता से निर्मित होकर गढ़वाली समाज के गठन में युगों से प्रवेश किए हुए हैं ।

सामन्ती व्यवस्था में जो थोकदार, प्रधान और हिस्सेदार होते थे, वे उच्चवर्ग में अवश्य गिने जाते थे , लेकिन उनकी प्रतिष्ठा ओहदे के कारण ही अधिक समझी जाती थी । मालगुजारी वसूलने के लिए उन्हें कुछ जमीन दे दी जाती थी, जो कर मुक्त होती थी । थोकदार न्याय और व्यवस्था भी संभालता था ।[१] राजाओं और सामन्तों का वीभत्स रुप यत्र-तत्र अवश्य मिलता है, लेकिन वर्गीय-विरोध की प्रवेष्टा निम्न वर्ग द्वारा किया जाना गढ़वाली लोक-गाथाओं मेंनगण्य ही है ।

गढ़वाली समाज की संरचना वर्ण और जातीय व्यवस्था पर आधारित है । ब्राह्मण, राजपूत और शूद्र (डोम) सभी का स्थान हिन्दू वर्ण व्यवस्था

---

१. गढ़वाल गजेटियर - एच० सी० वाटसन, पृ० ६६

के अनुसार ही समाज में निर्धारित हैं । गढ़वाल में शूद्र प्राय: लोहार, औजी और हत्या का काम करतेहैं । व्यापार की न्यूनता के कारण गढ़वाल में वैश्य जाति की संख्या बहुत कम है ।[१] जाति के आधार पर ही गढ़वाल में सामाजिक पहचान होती है । धार्मिक ऐक्य के बावजूद गढ़वाली समाज में अनेक ऐसे अन्तर्विरोध हैं, जो स्पष्टत: ऊँच-नीच की भावना और संकीर्ण जातीय मूल्यों के संरक्षण को प्रश्रय ही नहीं देते हैं, बल्कि मानवीय सम्बन्धों के प्रति निष्ठा के भाव को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से हानि भी पहुंचाते हैं । उच्च जाति के देवताओं की पूजा डोम (हरिजन) नहीं कर सकते, क्योंकि वे अछूत समझे जाते हैं, प्रचलित विश्वासों के अनुकूल जनपद ने सगुण उपासना को अपनी भेदभाव की नीति के कारण अवर्णों के लिए प्राय: बन्द कर दिया । समाज के हाशिये में स्थित येलोग इतने उपेक्षित थे कि इनके घर जाना भी धर्म के खिलाफ समझा गया -

वैं जोगी कू हमन जम्मा न्यूत नी करणो
स्यौ त हुमाणा भी आंद, स्योत जोगी इनो होलो ।

\+ \+

तब झिफ्कडांद ब्रह्मा - यो रैदास चमार ।
कन कैकु लौ जोलु ये कि भेंट ?[२]

अपनी इसी सामाजिक स्थिति के प्रति असन्तोष के भाव ने और समाज की सगुण उपासना से निष्कासित किये जाने पर समाज के इस वर्ग का ध्यान उपासना के उस दूसरे पहलू की ओर गया जो कि सगुण के स्थान

---

१. गढ़वाल का इतिहास - पं० हरिकृष्ण रतूड़ी, पृ० ६६
२. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य -डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० ३०७-३०८

पर निर्गुण को अधिक महत्व देता है । इसे अधिक स्पष्ट करते हुए डा० मोहनलाल बाबुलकर ने कहा है कि -'लोक की इस उपेक्षा के कारण समाज के इस वर्ग ने भेदभाव विहीन नीति के समर्थक और उपासना को इन्होंने अपना लिया । उन्होंने ब्रह्म के उस निर्गुण निराकार स्वरूप को महत्व दिया और उसी की साधना के लिए सवर्ण को असमर्थ करार देकर अपनी महत्ता को बढ़ाने का प्रयत्न किया ।'[१]

समाज के इसी वर्ग का यह निराकार 'निरंकार' बनकर गाथा के रूप में प्रचलित हो गया, जिसके साथ सृष्टि की उत्पत्ति से लेकर गाथा में कथित रैदास चमार की महत्ता और सवर्ण होने पर भी ब्रह्मा का रैदास चमार के सामने पराजय स्वीकार करना अवर्णों की उसी भावना का द्योतक है । संभवत: इन गाथाओं के माध्यम से धार्मिक समन्वय की भावना को प्रस्तुत करने का विचार रहा है या जातीय संकीर्णता के अस्तित्व को चुनौती दी गयी है । कुछ भी हो इससे लोक जीवन के उन मूल्यों पर प्रकाश पड़ता है जो रूढ़िवादी और पतनशील संस्कृति के बीच व्यापक मानवीय सम्बन्धों में विश्वास रखते हैं । इस प्रकार की गाथाओं में सुजू की सुनारो, कुसुमा-कोलिन तथा निरंकार की गाथा महत्वपूर्ण है ।

'कुसुमा कोलिन' गाथा में कृष्ण कुसुमा (जो कि एक हरिजन की स्त्री है) पर मोहित हो जाते हैं और उसके घर पहुंच जाते हैं । कुसुमा उन्हें द्वार पर आया देखकर आश्चर्य प्रकट करती है और कहती है - आप तो नारायण हैं हम कोली (हरिजन) हैं । भगवान ने इधर दर्शन कैसे दिये । कृष्ण बोले - ऐसी बात क्यों करती हो कुसुमा ? कोली भाई कहां है? कोली को घर में न पाकर कृष्ण कुसुमा से प्रणय निवेदन करता है ।

---

१. गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन - डा० मोहनलाल बाबुलकर, पृ० ४१६

इस गाथा में कृष्ण का कुसुमा के पति को भाई कहना और कुसुमा से प्रणय सम्बन्ध स्थापित करना एक ओर जहाँ उच्च जाति के भोगवादी मूल्यों को दर्शाता है, वहीं निम्न जातियों के महत्व को भी स्वीकारा गया है ।

`सुजु की सुनारी` एक अन्य गाथा हैजिसमें कृष्ण का निम्न जाति की स्त्री के साथ प्रेम सम्बन्ध होता है । इस गाथा में कृष्ण की सभा में कबीर, कमाल और दादू को भी बैठे हुए दिखाया गया है । स्पष्टत: इस में निर्गुण भक्तिधारा का प्रभाव परिलक्षित होता है । कबीर के 'जहाँ जात-पाँत नहिं धर्म ` के सामाजिक दर्शन ने मध्यकालीन चिंतन को मानवता के आधार पर समानता की जो दिशा दी, उससे दलित जातियों का प्रभावित होना स्वाभाविक था । किन्तु इस तरह की गाथाओं में एक और बात जो महत्वपूर्ण है, वह यह कि जब मनुष्य के भावनात्मक संवेग विशुद्ध प्रेम के धरातल पर पहुंच जाते हैं, तो वहाँ धर्म, जाति या नैतिक वर्जनाएं अस्तित्वहीन हो जाते हैं ।

`कोलिन` और `सुनारिन` के प्रति कृष्ण का प्रणय भाव दिखाकर इन निम्न जातियों की रमणियों को कृष्ण से सम्बद्ध कर उनकी महत्ता प्रतिष्ठापित की गई है ।

`ब्रज कोंल` गाथा में कृष्ण और ब्रजकोंल नाग जाति की कन्याओं से विवाह भी करते हैं --

मोती माला पत्थर माला दी बैणों
चली ऐन दक्षिण द्वारिका,
मोती माला व्याहेण कृष्णाक हैं ।
बरमीन व्याहे पत्थरमाला ।[१]

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २६३

इन गाथाओं के सम्बन्ध में डा० गोविन्द चातक का विचार है -- 'स्पष्टत: ऐसी कल्पनाओं के पीछे जातीय और धार्मिक समन्वय की भावना प्रमुख रही होगी । गाथा में पुनर्जीवन प्रदान करनेवाली गोरखनाथ, सिद्धवा, आदि की शक्ति का उल्लेख एक ओर धार्मिक समन्वय की ओर संकेत करता है । यह गाथा मूल रूप में तब रची गई होगी, जब कृष्ण को नागराज के रूप में स्वीकार किया गया होगा, किन्तु बाद में नाथ और सिद्ध परम्परा के प्रभाव के कारण उसमें गोरखनाथ आदि का प्रसंग भी जुड़ गया ।'[१]

वस्तुत: इन गाथाओं में मध्यकालीन सामन्ती मूल्यों की ही अभिव्यक्ति अधिक है, सतही रूप में उनमें जातीय और धार्मिक संकीर्णताओं को अस्वीकार करने के प्रसंग मिलते हैं, लेकिन ऐसे प्रसंग केवल स्त्री प्राप्ति या भोगवादी लिप्सा के ही परिणाम हैं । रूढ़िवादी नैतिकताओं और जातीय शोषण की प्रतिक्रिया इनमें कहीं नहीं दिखाई देती । गोविन्द चातक जी की इस बात से मैं सहमत हूं कि --'सुनारी की गाथा में सुनारी से प्रेम संबंध स्थापित करने और उसके पति को सताने के लिए कृष्ण कई उपायों को काम में लाते हैं । वस्तुत: यह प्रसंग मध्यकालीन सामन्ती क्रूरताओं से प्रेरित प्रतीत होता है । 'सुजू की सुनारी' गाथा में कृष्ण, भगवान कृष्ण की अपेक्षा अपने सुख और विलास के लिए प्रजा को पीड़ित करने वाला सामन्त दिखाई देता है ।'[२]

'निरंकार' की गाथा इन गाथाओं से कुछ भिन्नता रखती है । इसमें संकीर्ण जातीय मूल्यों की अस्वीकृति और व्यापक मानवीय चिंतन, समाज के सैद्धांतिक धरातल पर अपने आवेग को प्रस्तुत करता है । इस गाथा का विशेषता

---

१. भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्य हिमालय - डा० गोविन्द चातक, पृ० २५१

२. वही, पृ० २४६

है कि यह जागृत हरिजनों की भावना को प्रतिबिम्बित करती है । ब्रह्मा शास्त्राभ्यासी किन्तु कट्टर अंधविश्वासी साम्प्रदायिक सवर्णों के प्रतीक हैं । किन्तु गंगा मानवता और करुणा की वह अजस्र धारा है जो जाति और कुल की सामान्य साम्प्रदायिक भावनाओं से ऊपर है । गाथा में इस सत्य का संकेत किया गया है कि सामान्य जन में जो अवर्णों के स्पर्श से अपवित्र होने का भाव व्याप्त है, वह संकीर्ण चिंतन का परिणाम है । मानवता व्यापक धरातल पर मानव एकता और समता का ही समर्थन करती है ।

वस्तुत: सवर्णों के प्रति अवर्णों का रोश सीधे-सीधे जाहिर नहीं हो सकता । इसका कारण उनकी सामाजिक, आर्थिक और व्यावसायिक स्थिति है । इसी लिए वे सवर्णों के देवताओं के प्रति उलाहना उपालंभ का स्वर देकर अमूर्त विरोध व्यक्त करते हैं--

रैदास की भेंट भूली गे बरमा,
बरमा आधा रास्ता मां आये
बरमा का आंख फूटी गैन ।[१]

परिवार

गढ़वाली लोगों के सामाजिक जीवन की मूल इकाई आज भी परिवार है । परिवार ही समाज में मनुष्य के स्तर, व्यवसाय, पेशा, धर्म और संस्कारों को बहुत बड़ी मात्रा में निश्चित करता है । उनकी आस्था आज भी संयुक्त परिवार में है । संयुक्त परिवार के प्रति लोक समाज की यह आस्था केवल परम्परा के प्रति मोह ही नहीं है, प्रत्युत इसके पीछे उसकी

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० ३०८

परिस्थितियाँ, वातावरण एवं महत्वपूर्ण जीवन-दर्शन के आधार हैं ।

संयुक्त परिवार प्रणाली के प्रति पूर्ण सहमति होने पर भी वर्तमान लोक समाज इस वास्तविकता से अछूता नहीं बच सका कि उसके भीतर संयुक्त व्यवस्था के कारण एक घुटन और कसमसाहट भी विद्यमान है । एक ओर परिवार में ऐसे सम्बन्ध पोषित होते हैं जिनका आधार सहज स्नेह और शाश्वत अपनत्व है --

जीतू व शोभनू होला गरीबा का बेटा
माता त सुमेरा छ्यं, दादी फ्यूली जोंसू
दादा जी कुंवर छ्या भुली शोभनी

\+ + +

भुला शोभनूहोला माता बाला अलबूद
मैं जालू माता शोभनी बदोंण
न्यूतकि बुलौलो, पूजीक पठोलो ।।[१]

\+ + +

मामा फुफू का भाई होन्दान काका बाड़ौं का बाई
जनो माल दिदा छ्याय तनी मी भी छऊं ।[२]

तो दूसरी तरफ परस्पर व्यंग्य, कटाक्ष, स्वार्थ और डाह के कारण उसके अपनत्व में दरार भी उत्पन्न हो उठती है । समाज में चाचा, ताऊ और चचेरे भाईयों के द्वारा एक दूसरे की सम्पत्ति हड़पने के लिए अनेक अच्छे बुरे साधनों का प्रयोग में लाया जाना आम देखा जाता है । `गढ़ू सुम्याल` गाथा में ऐसा

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० १८४

२. वही - `रणू रौत गाथा`, पृ० २०१

ही एक षड्यंत्र गढ़ू सुम्याल के विरुद्ध उसके ताऊ और चचेरे भाई रचते हैं --

हे मेरा बेटा ये मारी ध्यान
तितर येई कुट्येड़ मैंस क्वी ध्यान

+ +

सातों भायों क मन मां कपट सूफीगे
गाड़ीन सातों न गंगलोड़ी हाथ ।[१]

पारिवारिक सम्बन्धों में इस तरह के कपटपूर्ण व्यवहार के पीछे धन-लोलुपता, राज्यलिप्सा या जातीय वैमनस्य की मनोवृत्ति कार्य करती है, जो कभी-कभी लोक जीवन के भोलेपन और सरल पक्ष को धूमिल कर देती है । स्त्री को लेकर भी पारिवारिक जीवन में तनाव की स्थिति पैदा हो जाती है । गढ़वाली लोक गाथाओं में अनेक ऐसे प्रसंग उपलब्ध हैं, जो इसी तरह के ताने-बाने से बुने गये हैं । `रणुरौत` की गाथा में रणुरौत जब युद्ध के लिए गया होता है, तब उसके मामा का लड़का फंकड़ अवसर पाकर अपनी भाभी भिमला अर्थात् रणू रौत की पत्नी के पास जाता है और उससे कहता है कि रौत भाई युद्ध में मारा गया है तथा उसके सामने विवाह प्रस्ताव रखता है । रणू रौत को जब यह बात पता चलती है तो वह क्रोध में आकर फंकू को मार डालना चाहता है, इसी पर रणु रौत की मां उसे समझाती है -

जनानि का खातिर तू भाई ना मार
तेरी पाठ सूनी होली

---

१. गढ़ू सुम्याल गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २२०-२२१

भाई का खातिर तू जनानी न मार
तेरी सेज सूनी होली ।[१]

कटुता, वैमनस्य, द्वेष और कपट, लोक जीवन की सच्चाई तो होती है, लेकिन वह उसका अन्तर्निहित दर्शन नहीं होता । उसके आदर्श पारिवारिक मधुरता, समरसता और आनन्दपूर्ण आवेग में निहित है - कंदू बनिता` गाथा में इसीलिए सौतिया डाह के बावजूद पारिवारिक एकता केमहत्व को स्वीकारा गया है --

तुम भाई-भाई दुया गरुड़ो नागो
आपस मां मेल से रवा ।[२]

यहां पर गरुड़ और नाग का परस्पर प्रेम सामान्यसामाजिक धारणा के विपरीत प्रतीत होता है किन्तु लोक विश्वास तर्क की अपेक्षा नहीं रखते । कुछ मान्यताओं के मूल में उनकी वह भावना काम करती है, जो समाज में आदर्श मूल्यों की स्थापना करना चाहती है । ऐसे प्रसंगों को कभी कभी लोक साहित्य में अलौकिक सत्ता से जोड़कर भी प्रस्तुत किया जाता है, लेकिन वहां भी उनका उद्देश्य आदर्श की स्थापना ही होता है । इसका यह अर्थ नहीं है कि लोक साहित्य केवल आदर्श के लिए ही लिखा जाता है, बल्कि उसमें यथार्थ की प्रतिच्छाया अधिक मुखरित रहती है । गढ़वाली लोक गाथाओं में पारिवारिक सम्बन्धों का जो प्रतिबिम्ब चित्रित हुआ है, उसका कुछरूप देखा जा सकता है ।

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २०३
२. वही, पृ० ३०६

(क) पति-पत्नी सम्बन्ध

गढ़वाली लोक गाथाओं में अन्य पारिवारिक सम्बन्धों की अपेक्षा पति-पत्नी के चिरंतन सम्बन्धों के प्रति परम्परागत विश्वास है । इन गाथाओं में दाम्पत्य प्रेम की सघनता और पति-पत्नी के पवित्र सम्बन्धों का विस्तृत एवं रोचक ढंग से चित्रण हुआ है । दोनों का सहज आकर्षण और एक दूसरे के प्रति ऐक्य की भावना यत्र-तत्र देखने को मिलती है --

तू मेरी जिकुड़ी के ध्यान माला
त्वै मां प्यारो ज्यू छ: ।
+ + + +
मेरो पराणो क प्यारे होलो कालू मंडारी
मेरो सब कुछ तू छई मैं छऊं तेरी नारी ।[१]
+ + + +
तव जसी वोरुवा हवेगे माछि पाणि ज्यू
एक का बिना है का नी सकदो
द्वी होला वो पर एक ही होला शरील ।[२]

पति के लिए पत्नी की उत्सर्ग भावना अनेक प्रसंगों में महत्वपूर्ण हो उठी है, कहीं उसे सत् की परीक्षा देकर अपने पतिव्रता धर्म का प्रमाण देना होता है तो कभी अपने सतीत्व से युद्ध भूमि में गये हुए पति की रक्षा करनी पड़ती है । और कभी पति के लिए स्वयं को ही मिटा देना पड़ता है --

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', पृ० २४१
२. वही, पृ० २४७

रखि दैणी जंघा पर वीन कालू को सिर,
बाईं जांघ पर धरे वो रूपू गैंग सारो
रौंदी बरांदि चढ़े चिता रैंच
सती होय गये तब ध्यान माला ।[१]

सत सम्बन्धी प्रणय गाथाओं में दाम्पत्य सम्बन्धों की पवित्रता व्यक्त हुई है और इस तरह के आदर्श भाव आज भी लोक जीवन में देखे जा सकते हैं । लेकिन पति के साथ पत्नी का सती होना केवल आदर्श की स्थापना नहीं करता, बल्कि उसके मूल में स्त्री की सामाजिक स्थिति, विवशता और उत्पीड़न है । विधवा स्त्री को समाज में किसी तरह का सम्मान प्राप्त नहीं होता, इसके अलावा पुरुष वर्ग की भोगवादी सोच के कारण उसे अपने पतिव्रत चरित्र को सुरक्षित रखना और कठिन हो जाता है । अपनी इसी सामाजिक स्थिति के कारण भी पत्नी अपने पति के साथ सती होना ही श्रेयस्कर समझती रही है । बदलते सामाजिक परिवेश के कारण गढ़वाली लोक जीवन के मूल्यों में बदलाव तो आया है, लेकिन गाथाओं में अभी भी मध्यकालीन ध्वस्त मूल्यों के प्रसंग अनेक अवसरों पर व्यक्त होते हैं । इसके पीछे लोक जीवन का सरल हृदय और भोलापन है जो पति-पत्नी के आदर्श को तो स्थापित करना चाहता है, लेकिन इस तरह के अमानवीय कृत्यों तक उसका सहज हृदय पहुंच नहीं पाता ।

दु:ख में स्त्री एक मात्र पति का सहारा चाहती है । दु:खी होने पर पति का सामीप्य प्राप्त करने के लिए वह बड़ी लालायित रहती है । वह अपने प्रेमाधिक्य के कारण पति को धन कमाने के लिए भी बाहर नहीं जाने देना चाहती । पति भी जो नौकरी के लिए परदेश जाने के लिए विवश होता है, पत्नी का विछोह नहीं चाहता । लेकिन आर्थिक मजबूरियों के कारण

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २४३

पति-पत्नी को विरह की यातनाएं झेलनी पड़ती हैं । ऐसे अनेक प्रसंग गढ़वाली लोकगाथाओं में अभिव्यक्त हुए हैं । पति और परिवार के लिए अपने अस्तित्व तक को मिटाने को तत्पर स्त्री की समर्पण भावना की चरम स्थिति `ताकुमताकुम` गाथा में देखी जा सकती है --

मैं भी मेरा स्वामी संग मां आंदू ताकुम ताकुम ।
भूख लगती मैं भोजन ह्वे जौलू ताकुम ताकुम ।
प्यास लगली मैं जली ह्वैं जौलू ताकुम ताकुम
उकाल लगलो मैं लाठी बणी जौंलो ताकुम ताकुम
पसीना ह्वेल स्वामी रुमाल ह्वे जौलू ताकुम ताकुम
सेज की लगत मैं नारी ह्वे जौलू ताकुम ताकुम
जुद्ध लगलो मैं, कालिका ह्वैं जौलू ताकुम ताकुम ।[१]

गढ़वाली लोक गाथाओं में सर्वत्र और सर्वथा पति-पत्नी के श्रेष्ठ सम्बन्ध ही प्राप्त नहीं होते । कहीं-कहीं पति-पत्नी के बीच कटु सम्बन्धों और परस्पर तनाव का उल्लेख भी मिलता है । इसके पीछे बहु विवाह प्रथा, पति का अन्य स्त्रियों से सम्बन्ध एवं पत्नी के अमर्यादित सम्बन्धों के अलावा घर गृहस्थी के नित्य प्रति के कार्यों में पति की आशा की अवहेलना करना है । `जीतू बगड़वाल` गाथा में जीतू जब अपनी साली से मिलने जाता है, तो उसकी पत्नी अपनी उपेक्षा को बर्दाश्त नहीं कर सकती और अपने पति को भला-बुरा कहती है -

जांदो ह्वेई मेरा स्वामी, आंदो नी ह्वेई,
स्याली क खातिर तू मैटी बैणी बदौण ।[२]

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २६६
२. वही, पृ० १८५

`रणु रौत` गाथा में घर में दूध उपलब्ध न होने के कारण पत्नी पति केलिए खट्टी खीर बनाती है तो रणु रौत सोचता है कि यह मेरी उपेक्षा कर रही है और दूध इसने अपने प्रेमी को पिला दिया होगा - वह क्रोध से भर उठता है और पत्नी को मारने के लिए उद्यत हो जाता है --

मैंक तईं रांड केक पकाये खट्टो खीर
रणु रौतन खैंचे शमशीर
आज रांड का टुकड़ा-टुकड़ा करदों ।[१]

(ख) सास बहु का सम्बन्ध

लोक-साहित्य में सास बहू के सम्बन्ध कहीं अच्छे नहीं दिखाई दे पड़ते । लोकाचार में बहू सास का सम्मान करती है । उसकी सेवा सुश्रुषा में रत रहती है । महाकवि तुलसी ने स्त्री का सबसे बड़ा धर्म सास ससुर के चरणों की सम्मानपूर्वक पूजा बताया है -

एहि ते अधिक धरम नहिं दूजा
सादर सासु-ससुर पद पूजा ।[२]

इसके बावजूद सास बहु के कार्य से हमेशा असन्तुष्ट दिखाई देती है । सास और बहु के बीच संघर्ष का मनोवैज्ञानिक आधार भी है । माता का अपने पुत्र के लिए और पत्नी का अपने पति के लिए अधिकार प्रदर्शन का भाव

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २०२
२. रामचरित मानस (मूल गुटका), बालकाण्ड - गोस्वामी तुलसीदास, पृ० २६८

ही इस संघर्ष के मूल में निहित है । इस संघर्ष का दूसरा कारण आयु का अन्तर भी है । वृद्धाओं और युवतियों का दृष्टिकोण परस्पर मेल नहीं खाते । वृद्धाएं अपने जीवन के अनुभवों का उदाहरण देकर युवतियों पर कटाक्ष करती रहती हैं और युवतियां वृद्धाओं के कथन को सड़ा-गला और निरर्थक समझकर टाल देती हैं । परिणामस्वरूप कलह केबीज पनपने लगते हैं ।सास अपने इसी क्षोभ के कारण ही बहु को दिन रात आवश्यक और अनावश्यक कार्यों में जुटाए रहती है । उसे एक क्षण के लिए भी अवकाशग्रहण करने नहीं देती । सास का इससे भी अधिक निष्ठुरता और कठोरता का प्रमाण तब मिलता है, जब वह झूठे-सच्चे षड्यंत्र रचकर परदेश से लौटकर आए हुए पुत्र से बहु के अन्याय दोषों का वर्णन करती है और उसके चरित्र पर भी दोष लगाती है । गढ़वाली लोक गाथाओं में सास-बहू के इस तरह के सम्बन्ध पर्याप्त रूप में मिलते हैं ।

`जसी` की गाथा में इसी तरह एक सास अपनी बहु के चरित्र पर लांछन लगाती हुई अपने पुत्र से शिकायत करती है -

न ले मेरा वीं पातर का नाऊं
पद्मू रौंत अै छौं वींक मेना ।
पाणी पंधारा वा पाप करीक आए
अपणा पापन बेटा, वींन मौत अपनी अफी बुलाए ।[१]

कभी-कभी तो बहु को सास द्वारा दी गई शारीरिक प्रताड़ना के कारण प्राण तक देने पड़ते हैं --

लबार पातर छई तू दारी
वार पार लेक नौना बमौन्दी

---

१. गढ़वाली माषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २५१

ढाड़ी जिकुड़ि तेरी बाघ खालो
दाग लगेक ज्वानि पर यख आई केके ?
देख त्वे आज मैं ज्यूंदा नी छोड़ू ।
बुढड़ी न तब कटार मारे खून की धार बगे ।[१]

`नागलोक में अर्जुन ` गाथा में अर्जुन जब द्रोपदी को सुप्तावस्था में छोड़ कर वसुन्दता से मिलने नागलोक चला जाता है तो सुबह शैय्या पर अर्जुन को न पाकर द्रौपदी कुन्ती के पास जाती है और अर्जुन के बारे में पूछती है । कुन्ती द्रौपदी को जो उत्तर देती है, वह सास-बहु के कटुतापूर्ण सम्बन्धों को ही उजागर नहीं करता, बल्कि अपने ही परिवार में अपने ही लोगों के बीच एक स्त्री की विडम्बनापूर्ण विवशता को भी उजागर करता है --

हे सासु रौंल तुमन अपणू बेटा भी देखे ?
तब कोन्ती माता कन स्वाल देंदी -
काली रूप धरे त्वेन अर्जुन मच्याले,
अरु मेमु सच्ची होण कु आई गए
तब कड़ा बचन सुणीक द्रुपती
दणा मण दणा मण रोण लगदे ।[२]

अजीब विडम्बना यह है कि जो बहु आज सास द्वारा प्रताड़ित होती है, वही भविष्य में ऐसी सास की भूमिका निभाती है ।

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २५०
२. वही, पृ० २६८

(ग) देवर भाभी का सम्बन्ध

लोक साहित्य में देवर भाभी का सम्बन्ध विनोदपूर्ण माना गया है । गढ़वाली लोक गाथाओं में देवर-भाभी के स्नेहासिक्त सम्बन्धों का विषद चित्रण प्राप्त होता है । कई गाथाओं में देवर भाभी का पत्रवाहक और प्रणय में सहायक भी होता है । `ब्रक्कौले` गाथा में तो कृष्ण सीधे-सीधे अपने भाई `ब्रक्कौले` को अपनी प्रेमिका को जीत कर लाने के लिए कहते हैं --

त्वैं जाणू होल बरमी हिवं चल कांठा
सोना का पासालौण्या, चांदी की चौकी
जोत माला रैंदा बल मोती माला
जीतिक लौण भुला मोतीमाला मेकु तर्इं ।[१]

किन्तु अनेक गाथाओं में देवर भाभी के अनुचित सम्बन्धों का भी उल्लेख हुआ है । `रणू रौत` में झंकू अपनी भाभी भिमला से छल द्वारा अनुचित सम्बन्ध स्थापित कर लेता है --

जनो माल दिदा छ्यो तनी मै भी छ्वं,
मैंन आज दादू का पलंग का सूतो होण
मैंन दादू की थाल ठ्वं जिमण ।[२]

इन अनुचित प्रेम सम्बन्धों का क्या कारण है ? कहना कठिन है । अनुमानत: यह परस्पर माधुर्य भावना के अतिरेक का दुष्परिणाम है । गढ़वाल में एक परम्परा देखी जाती है कि पति की आकस्मिक मृत्यु आदि संकट जन्य परिस्थिति उत्पन्न होने पर स्त्री देवर को द्वितीय वर के रूप

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २८४
२. वही, पृ० २०१

में वरण कर लेती है । सम्भवत: इसी प्रथा ने देवर-भाभी के अनुचित सम्बन्धों को प्रश्रय दिया है । आज भी यह परम्परा गढ़वाल में देखने को मिलती है किन्तु यह प्रथा निम्न वर्ग की जातियों (कोली, लोहार, औंजी) तक ही सीमित हो गयी है, उच्च जातियों में प्राय: इस प्रकार की प्रथा समाप्त-प्राय: है ।

जनपदीय विश्वास देवर भाभी के विनोदपूर्ण सम्बन्धों को खुले रूप में स्वीकार तो करते हैं, लेकिन नैतिकता और मर्यादा का ध्यान वहां बराबर रहता है बल्कि 'लक्ष्मण जैसा देवर' उदाहरण देकर देवर भाभी के आदर्श सम्बन्धों की स्थापना ही वहां महत्वपूर्ण होती है ।

(घ) सपत्नी सम्बन्ध

भारतीय नारी के लिए सौत से बढ़कर कोई दूसरा शत्रु नहीं है । स्त्री का परिवार के जिन पात्रों से कटुता का सम्बन्ध होता है, उनमें सौत के प्रति उसकी कटुता की भावना पराकाष्ठा तक पहुंची दिखाई देती है । कनउजी में एक कहावत है कि सौत मिट्टी की भी भली नहीं होती -- 'सउति माटिउ की भली नाहिं होति ।'[1] बहुविवाह के कारण पुरुषों के स्त्री सम्बन्धी अन्याय सम्बन्धों के परिणामस्वरूप नारी समाज के द्वारा गढ़वाली लोक गाथाओं में सपत्नी भाव की मार्मिक अभिव्यंजना हुई है --

पर वसुन्दता क नौ सुणीक वा
फुल सी मुरझेंगे - डाल्यि सी झुलसैंगे ।[2]

---

१. कनउजी लोक साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब - डा० सुरेश चन्द्र त्रिपाठी, पृ० २५३

२. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', पृ० २६८

सौत परस्पर एक दूसरे को हानि पहुंचाने के लिए छल-कपट और षड्यंत्र की सहायता से पति या उसकी सम्पत्ति पर अपना एकाधिकार करना चाहती है । `गोरील` गाथा में इसी तरह का एक षड्यंत्र है जिसमें सौत के बच्चे को नदी में बहाकर दूसरी सौत यह कहकर कि इसने `गंगलोडु` (पत्थर) को जन्म दिया, अपमानित करती है । `कद्दू-बनिता` में तो कद्दू का सौतिया डाह बनिता को छल से अपनी दासी बना लेता है -

बनिता होली कनी स्या डेणा
वीं की दासी कनो होण बेटा मैंन ।

+ + +

तब ह्वेगे बनिता, नागू की दासी
तब दण मण रोंदि पथेणा नेत्र घोलदे ।[१]

इस प्रकार सौत के प्रति नारी समाज में इतना गहरा दोष विद्यमान है कि जिस किसी के प्रति वह अपना आक्रोश प्रकट करना चाहती है, उसे ही वह सौत को संज्ञा दे देती है । आशय यह है कि भारतीय नारी अपने दाम्पत्य प्रेम में किसी दूसरे के अधिकार की कल्पना नहीं कर सकती । परस्पर आनन्द प्रेम भावना ही दाम्पत्य जीवन की सार्थकता है । और सपत्नी द्वेष के माध्यम से आत्मोत्सर्ग करने वाली सौभाग्यवती नारी अपनी इसी अनन्य भावना का साधिकार परिचय देती है । डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी ने इसे स्पष्ट करते हुए कहा है कि -`प्रत्येक वधु अपने प्रियतम के लिए आकर्षण का विषय है और सौत उस वधू के प्रणयी जीवन का अमंगलकारी धूमकेतु`[२] । गढ़वाली लोक गाथाओं में इस भाव की अन्विति नारी के करुणा मय जीवन की त्रासदपूर्ण स्थिति को सामने रखती है ।

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० ३०३

२. कनउजी लोक साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब - डा० सुरेशचन्द्र त्रिपाठी, पृ० २५४

इसके अतिरिक्त गढ़वाली लोक गाथाओं में माँ-पुत्र , पिता-पुत्र, भाई-बहिन, मामा, फूफा आदि पारिवारिक सम्बन्धों का भी पर्याप्त उल्लेख मिलता है, जो प्राय: वात्सल्य एवं ममता से परिपूर्ण है ।

नारी सम्बन्धी जीवन मूल्य

गढ़वाली लोक समाज में यद्यपि परिवार के भरण पोषण और श्रम में नारी की भागेदारी महत्वपूर्ण होती है, किन्तु अपने सामन्ती संस्कारों और मूल्यों के कारण वहां भी पुरुष का ही प्रभुत्व रहा है । उसने नारी को कभी तो देवी की भाँति पूजा है, कन्या को सर्वश्रेष्ठ दान कहा है तथा माता में देवत्व के दर्शन किये हैं और कभी उसको मायाविनी, कुलटा और दुर्गुणों की खान कहने में भी संकोच नहीं किया है । उसके सतीत्व, कन्या के जन्म के कारण उपेक्षा, श्वसुर गृह के कष्ट, बन्ध्यात्व, वैधव्य तथा उसके स्वभाव के सम्बन्ध में सामन्तवादी समाज की कुछ निश्चित धारणाएं बनी हुई हैं । स्त्री वर्ग ने उनके विरुद्ध समय-समय पर अपना क्षोभ भी प्रकट किया है ।

गढ़वाली लोक गाथाओं में नारी की स्थिति के दोनों पक्ष प्राप्त होते हैं । कहीं वह सती साध्वी, आदरणीया, सभ्य सुशिक्षित एवं वीरता की अधिष्ठात्री देवी के रूप में चित्रित की गयी है तो कहीं उसे माता पिता के लिए भारस्वरूपा, सास श्वसुर एवं पति से तिरस्कृता, दुश्चरित्रा आदि अनेक अवगुणों से परिपूर्ण और हेय रूपों में देखा गया है -

'लबार, पातर छै तू दारी ।'[१]

---

१. 'जसी गाथा' : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट 'शैलेश', पृ० २५०

भारतीय नारी अपने सतीत्व के लिए प्रसिद्ध है । विश्व की कोई भी स्त्री नारी के इस पावन रूप में भारतीय ललना की तुलना में कहीं नहीं ठहर सकती । गढ़वाली लोकगाथाओं में स्त्री को पति के प्रति अनन्य निष्ठावती दिखाया गया है । उसको चाहे कितना कष्ट उठाना पड़े, उसके पति में कितने ही दोष क्यों न हों ? किन्तु उसकी अनन्य निष्ठा में कमी नहीं आ सकती । पत्नी के जीवित रहते हुए पति यदि किसी अन्य स्त्री से अनैच्छिक सम्बन्ध रखता है तो इससे अधिक कठोर आघात एक पत्नी के लिए और क्या हो सकता है ? लेकिन इसके बावजूद अनेक ऐसे प्रसंग मिलते हैं जहां पति के अन्य स्त्री के साथ अनैतिक सम्बन्ध होने पर भी पति के प्रति पत्नी की निष्ठा कम नहीं होती । बल्कि `चन्द्रावली हरण' में तो स्वयं रुक्मणी ही कृष्ण को चन्द्रावली के हरण का उपाय सुझाती है ।

बतावा रुक्मणी तुमतरो मनसूबो,
कनकैक क्विंक लाण तेरी बैण चन्द्रा,
तुम बणा भगवान बद्री का फेक्वाल
तब जावा नारैण चन्द्रावली गढ़ ।[१]

अनेक गाथाओं में परदेश से लौटने पर पति अपनी मां या बहन के बहकावे में आकर और कभी स्वयं छद्म वेश में अपनी पत्नी की परीक्षा लेता है । कभी-कभी देवर भी भाभी को छल से अपनी पत्नी बनाना चाहता है । `राणू रौत ' गाथा में फंकरु अपनी भाभी भिमला से कहता है कि रणू माहं युद्ध में मारा गया है अत: अब तुम मुझसे विवाह कर लो । भिमला उसे फटकारती हुई कहती है कि --

`एक बात बोली दूर हेक मा न बोली

ज्ञ १. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश', पृ० २८०

मैं शेरना की सेज स्याल नि सेवाल्दो
मैं स्वामी की थाल कुत्ता निजिमांदो ।[१]

नारी के लिए सतीत्व सम्भवत: सबसे बड़ा धर्म रहा है । इसी लिए अधिकांश गाथाओं में नारी अपने सतीत्व को ललकारती हुई यही कहती मिलती है कि यदि मैं दो की जाई (मां और पिता की पैदा हुई) और एक की जोई (पत्नी) रही होऊं तो अमुक कार्य सिद्ध हो जाय । उदाहरणत: `गढ़ू सुम्याल` में जब गढ़ू का ताऊ धोखे से उन्हें झूटदारी भैंस (जिसका दूध समाप्त होने वाला हो) देता है तो गढ़ू की मां कहती है --

सते होली मैं जु अपणी मां की जाई
सते होला जु पंचनाम देवता
ई भैंसी पर दूध आई जान ।[२]

एक अन्य उदाहरण --

सते होली तू दुयों की जाई एक की जोई
त उठी जैली सेयां क चार
जु त्वैन नि करे हो पाप, मन रै हो साप
जु कैकू खोटी निबोली, पराईनि ताकि होली
त तू जसी मेरी नार खड़ी हव्यां सेयां चार ।[३]

- अगर तू सत्य ही दो की जाई और एक की जोई रही है, जो तूने कभी पाप न किया हो, तेरा मन साफ रहा हो, जो तूने कभी खोटी

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २०१
२. वही, पृ० २२१
३. वही, पृ० २५१-५२

बात न कही हो या पराई चीज के लिए न ताकी हो, तो हे जसी नारी तू सोए हुए की तरह उठ बैठ ।

गढ़वाली लोक गाथाओं में केवल नारी को ही अपने सतीत्व का आह्वान करते नहीं पाते । वरन् पुत्र अथवा पति भी उसके सत् की शक्ति से सम्भव को असम्भव करते पाते हैं । नारी का सतीत्व पति और पुत्र की शक्ति के लिए अनिवार्य उपलब्धि मानी गयी है । नाराज संतान और कुलटा स्त्री के पति से किसी सिद्धि की आशा नहीं की गयी है । इसीलिए कालू भंडारी युद्ध में जाने से पूर्व अपनी मां से साहसपूर्ण प्रश्न करता है - `मां यदि मैं अपने माता पिता का पुत्र हूं तो मैं रण में जाता हूं अन्यथा मरने को नहीं जाता ।`

लोक साहित्य नारी की दीन हीन दशा का चित्रण सबसे अधिक प्रस्तुत करता है । नारी के जन्म को एक प्रकार का अभिशाप माना जाता है । आर्थिक समस्या और विवाह की कठिनाई ने स्त्री जीवन को और भी अधिक दुःसमय बना दिया है । सामन्ती व्यवस्था ने अनेक विषमताएं पैदा कीं जिसने नारी के जीवन, उसके अधिकारों और प्रणय को सीमाओं में बांधने का प्रयास किया, यह प्रयास गढ़वाल की चैती गाथाओं में बहुत ही स्पष्ट हुआ है । इसलिए इसमें कोई सन्देह नहीं कि अधिकांश चैती गाथाएं सामन्त-वादी परिस्थितियों की देन हैं । डा० गोविन्द चातक ने इसका उल्लेख भारतीय लोक संस्कृति के सन्दर्भ में किया है --`यह पूरा युग सामन्ती संघर्ष का युग था, जिसमें शासकों की सनक, अहलकारों की ईर्ष्या और रानियों की महत्वाकांक्षाएं राजनीति की चालें चला रही थीं ।`[१]

जिस परिवार में युगों से जरा-जरा सी बात पर कट मरना जीवन का दर्शन बन गया हो, वहां नारी की क्या स्थिति रही होगी, इसकी कल्पना

---

१. भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्य हिमालय - डा० गोविन्द चातक, पृ० ३०८

की जा सकती है । रिखोला के पवाड़े में मांजमरावती का पुत्र की मृत्यु पर यह फटकार (शाप) देना कि गढ़वाल में कभी कोई मड़ पैदा न हो, उसके हृदय की परिस्थिति से उत्पन्न व्यथा को प्रकट करता है ।

स्त्री की अन्य पीड़ा उसके बन्ध्यात्व का अभिशाप है । माता के रूप में ही नारी अपने पूर्णत्व को प्राप्त होती है । बिना सन्तान के वह अपने जीवन को अभिशाप समझती है, चाहे कितना ही धन-धान्य उसके घर में क्यों न हो । कितना ही सुख वैभव हो, पर बिना संतान के स्त्री को सच्चा सुख नहीं मिलता, संतान प्राप्त करने के लिए वह सभी तरह के कष्टों को सहती है । मनौतियां मांगती हैं । `राजुला मालूशाही` में तो बहुत मनौतियों के बाद अस्सी वर्ष की अवस्था में रानी पंवारी को संतान सुख की प्राप्ति होती है --

`बुड्यां दी बगत लगी तीजा जसी जाने
दोलाशाही राजा की राणी पंवारी बर्तै है
वीं राणी को विधाता मर्म रहं गए ।[१]

लोक-साहित्य में बांझ स्त्रियों का मुंह देखना भी अपशकुन माना जाता है । कभी कभी तो संतान प्राप्त न होने पर पति द्वारा पत्नी को त्याग दिया जाता है और वह दूसरा विवाह कर लेता है ।

स्त्री की चरम करुणाजन्य स्थिति उसका विधवा हो जाना है । विधवा की मर्म-भेदी करुण व्यथा लोक गीतों एवं लोक गाथाओं में सुनाई देती है । पुरुष अनेक विवाह कर सकता है, लेकिन विधवा, चाहे वह बालिका ही क्यों न हो, पुनर्विवाह नहीं कर सकती । पुरुष वर्ग के लिए

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २२६

स्त्री धर्म पालन करने का कोई नियम नहीं है, परन्तु विधवा की दिनचर्या के लिए कठोर नियंत्रण है । विधवा की आर्थिक दशा भी बड़ी दु:खद होती है । उसे उत्तराधिकार का कोई अधिकार नहीं है। अत: पति की मृत्यु के बाद वह पुत्र तथा घर के अन्य कुटुम्बियों की दया पर आश्रित रहती है ।

गढ़वाली लोक गाथाओं में नारी को `तिरिया चरित्र` वाली भी कहा गया है । स्त्री के छल-कपटपूर्ण विश्वासघात युक्त एवं रहस्यमय चरित्र को तिरिया चरित्र कहा जाता है । एक लोकोक्ति के अनुसार `स्त्री के चरित्र और पुरुष के भाग्य को देव भी नहीं जान सकता तो मनुष्य की सामर्थ्य ही क्या है - "त्रियाश्चरित्रं पुरुषस्य भाग्यं दैवो न जानाति कुत: मनुष्य: ।" लोक साहित्य में नारी का यह छलपूर्ण स्वभाव विशेषकर लोक कथाओं में प्रकट हुआ है । `रणू रौत गाथा में स्यूंसीला का प्रेमी रणू रौत जब उससे मिलने आता है तो उसका पति उसके प्रेमी को मार डालता है तथा स्यूंसीला के प्रति क्रोध प्रकट करता है, लेकिन स्यूंसीला अपने पति से कहती है कि `वो अपने आप आया था अपने आप मर गया मैंने उसे नहीं बुलाया था । आप तो मेरे सिर के ताज हैं, मेरे पति हैं । किन्तु जब मेघू कालूनी अर्थात् स्यूंसीला का पति स्यूंसीला के प्रेमी की चिता जलाता है तो स्यूंसिला चिता में कूद कर अपने प्राण दे देती है --

जना अफ़ आई क्यो वो उनका अफ़ मरी गैना
तुम क्न मेरा मरता ।

+ + +

फेर क्ट उक्ले चिता चढ़ी गये
द्वि मालू का बीच सती होई गये ।

वस्तुत: पुरुष वर्ग स्त्री के शब्दों, व्यवहार, प्रेम, करुणा, रुदन, हास्य आदि का रहस्य नहीं समझ पाता और इस सब के लिए पुरुष समाज ही जिम्मेदार है जिसने नारी चरित्र को इतना जटिल बना दिया है । पुरुष

समाज ने ही उसे छल, घृणा और कपट सिखाया है । पुरुष प्रधान समाज ने नारी को कभी भी समानता का अधिकार नहीं दिया है । वह उसके लिए कभी देवी बनी, कभी कुलटा बनी, शारीरिक उपभोग की वस्तु बनी, तो कभी सन्तानोत्पत्ति तक ही उपयोगी समझी गयी । तो कभी चौका-चूल्हा की सीमाओं में ही उसकी सम्भावनाओं और आशाओं को बांध दिया गया । इस तरह के पतनशील मूल्य अभी भी गढ़वाली लोक जीवन में देखे जा सकते हैं । लेकिन यद्यपि अब शेष समाज से गढ़वाली लोक समाज का सम्पर्क और अंशत: ही सही, शिक्षा और प्रचार माध्यमों ने वहां नारी की स्थिति में कुछ भिन्नता अवश्य ला दी है । नारी सम्बन्धी पुराने मूल्यों के टूटने के संकेत और उसकी चेतना आधुनिक मूल्यों से प्रभावित होती दिखाई दे रही है ।

नारी की वर्गीय चेतना

अपने सम्पूर्ण परम्परागत शोषण के बावजूद गढ़वाल में नारी की वर्गीय चेतना उसे सामाजिक समता के धरातल पर तो ला देती है, लेकिन कई स्तरों पर अभी भी उसकी विवशताजन्य स्थिति देखी जा सकती है । गढ़वाल की नारी का जीवन पहाड़ जैसे ही कठिन है । कृषि का लगभग सम्पूर्ण कार्य उसी के ऊपर निर्भर रहता है, वह दिन रात अपने को खपाती रहती है, फिर भी आर्थिक रूप से उसे किसी न किसी पर आश्रित रहना पड़ता है । इसका कारण वहां की भूमि का उपजाऊ न होना भी है ।

चूंकि गढ़वाल से अधिकांश पुरुष वर्ग रोजी की तलाश में शहरों की ओर पलायन कर जाते हैं, इसलिए गढ़वाल में नारी को कृषि तथा परिवार से सम्बन्धित सभी दायित्व निभाने पड़ते हैं । इससे उसकी स्वतंत्र स्थिति की पहचान तो बनती है, लेकिन अर्थ पर टिकी पूरी व्यवस्था उसे फिर पराश्रित बना देती है । जीवन-यापन के साधन अत्यधिक कम होने के कारण उसे पारिवारिक पोषण में भी कठिनाई होती है और वहां उसकी दैन्यता स्पष्ट दिखाई देती है । गरुड़ासन में गरुड़ जब परदेश चला जाता है तो गर्भवती गारुड़ी की विवशता पुरुष समाज में नारी की स्थिति को स्पष्ट

करती है --

घास नी छ पात लाखड़ी न पातड़ी
कनू के की मी ये नीला आकाश मां
धोल बणोलू ।

अपनी इस स्थिति के कारण उसे पुरुष का आश्रय लेना ही पड़ता है --

पैरु मां पोड़ी स्या त सरणागत होये ।[१]

वस्तुत: गढ़वाल में नारी को अपेक्षाकृत आर्थिक, राजनैतिक व धार्मिक स्वतंत्रता अधिक प्राप्त है । कई गाथाओं में आर्थिक रूप से सम्पन्न नारी को स्वेच्छापूर्वक दान करते हुए दिखाया गया है -`भूखों तईं खिलौंदी छई, रोंदों चप्यो दी ।`[२] `तिलू रौतेली` में तो नारी का वीरांगना का रूप सामने आया है । वह राजनैतिक रूप से इतनी स्वतन्त्र है कि अपने पिता का बदला वह युद्ध में जाकर लेती है तथा राज्य का शासन भी करती है ।

यद्यपि इस तरह के मूल्य वहां पर सामान्य स्त्री के बारे में नहीं हैं, लेकिन स्त्री सम्बन्धी परिवर्तित धारणा के संकेत अवश्य मिल जाते हैं । कहीं-कहीं तो नारी का विद्रोही स्वरूप भी देखने को मिलता है ।

जुगल किशोर पेटशाली द्वारा रचित `राजुला मालूशाही` की भूमिका में डा० गोविन्द चातक ने नारी की इसी चेतना के बारे में लिखा है --`इस

---

१. गढ़वाली लोक-साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन - डा० मोहनलाल बाबुलकर, पृ० २२१
२. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० १६३

गाथा में राजुला कुचली हुई नारी के एक पूरे अहसास के साथ अपनी निराशा कम और कटुता तथा आक्रोश अधिक व्यक्त करती है । यह उसकी जीवन-दृष्टि का एक बहुत बड़ा सकारात्मक पक्ष है । यहां राजुला समकालीन बोध का प्रतीक बन जाती है । पुरुष के हाथों में उसका शोषण, सामाजिक धार्मिक मान्यतायें और आर्थिक परवशता सबको एक साथ झेलती हुई नारी व्यथा की पोटली और दन्तकथा की वृद्धा नायिका बन बैठी है । इस प्रकार उसका स्वर विद्रोहिणी नायिका का है ।[१]

पुरुष वर्ग के अत्याचारों और दबावों के बीच नारी अपनी स्वतंत्र पहचान बनाने के लिए तत्पर दिखाई देती है, पिता की इच्छा के अनुसार ही विवाह करने में जहां ध्यान माला केवल रो सकती थी --

पिता की मरजी अपणी निछ वींकी
कि रोंदी छः किरांदी वा नौनि ध्यानमाला ।[२]

वहां `भानु मौपिलो` गाथा में नारी को अपने अधिकार केलिए संघर्ष करते हुए दिखाया गया है। अमरावती का विवाह उसका पिता [illegible] गवाड़कोड़ के राजा गुरु ज्ञानचंद से करनाचाहता है, लेकिन अमरावती अपनी मां के सहयोग से अपने प्रेमी से विवाह कर लेती है ।

इस तरह के कई प्रसंग हैं, जहां नारी के प्रति परिवर्तित मूल्यों का आभास होता है या नारी अपनी वर्गीय चेतना के प्रति सजग होती दिखाई देती है ।

०

---

१. राजुला मालूशाही - जुगल किशोर पेटशाली, पृ० २२
२. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २४२

तृतीय अध्याय

गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त राजनैतिक जीवन-मूल्य

प्रचलित धारणा के अनुसार लोक जीवन को प्राय: राजनैतिक दृष्टि से निष्क्रिय सामान्य जन समूह से सम्बन्धित मान लिया जाता है । किन्तु इतिहास अब प्रमाणित कर चुका है कि सामान्य अर्द्धशिक्षित जनता ने भारत में ही नहीं, अनेक देशों में महान राजनैतिक आन्दोलनों में भाग लिया है । लोक मानस से उद्गत 'यथा राजा तथा प्रजा' एवं 'अंधेर नगरी चौपट राजा - टका सेर भाजी टका सेर खाजा' लोकोक्तियां सामान्य जनता के हृदय में उत्पन्न राजनैतिक क्रिया-प्रतिक्रिया की ही द्योतक हैं और यह सिद्ध करती हैं कि यह समाज अपने जीवन की अन्य परिस्थितियों की भांति राजनैतिक परिस्थिति के प्रति भी सदैव जागरूक एवं सचेष्ट रहा है ।

यद्यपि लोक-साहित्य में इतिहास का अंकन होता है और उसके चित्र अस्पष्ट तथा रेखाएं धुंधली होती हैं, तथापि विभिन्न लोकगीतों, पंवारों एवं वीरगाथाओं आदि का अध्ययन करने पर विदित होता है कि वे सभी अपने समय की राजनीतिक चहल-पहल, आक्रमणों , संघर्षों और उनकी प्रतिक्रियाओं की कहानी कहते हैं । गढ़वाली लोक-साहित्य पर भी यह बात पूर्णतया लागू होती है । उसमें एक ओर गीतों में गोरखों और हिन्दुओं के संघर्ष-चित्र प्राप्त होते हैं, तो दूसरी ओर गाथाओं और पंवारों में सामन्तीय जीवन उभरे हैं । न केवल इतना ही, बल्कि आधुनिक राजनैतिक परिस्थितियों का ज्ञान भी उनके द्वारा प्राप्त हुआ है ।

गढ़वाल के मध्यकालीन राजनैतिक परिदृश्य का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि मध्यकाल में गढ़वाल अनेक विप्लवों, संघर्षों, राजाओं एवं सामन्तों के वैयक्तिक स्वार्थों एवं महत्वाकांक्षाओं से प्रेरित दम्भ एवं सत्ता-लोलुपता की ही रंगभूमि रही है । वहां राज्य सत्ता और शासकों के स्वार्थों के मध्य आम जनता के सुख और समृद्धि को कहीं भी स्थान प्राप्त नहीं था । सत्ता संघर्ष से इन राजाओं को कभी अवकाश भी मिलता तो उसे वे विभिन्न स्त्रियों को प्राप्त करने और उनका उपभोग करने में ही नष्ट कर देते थे । महलों में एक से अधिक रानियां रखना राजनीतिक दृष्टि से राजा के प्रभुत्व और शक्तिशाली होने का मानदण्ड समझा जाता था । कहा जा सकता है कि शेष भारत के अन्य राज्यों की मध्यकालीन राजनीतिक धारा के समानान्तर ही गढ़वाल की राजनीति निरन्तर प्रवाहित होती रही ।

यद्यपि गढ़वाली लोकगाथाओं के रचनाकाल का कोई प्रामाणिक समय नहीं मिलता, लेकिन कुछ ऐतिहासिक घटनाओं और व्यक्तियों के प्रसंगों के आधार पर कहा जा सकता है कि अधिकांश गढ़वाली लोकगाथाओं की रचना मध्यकाल में ही हुई है । उनमें जिन राजनैतिक जीवन-मूल्यों की अभिव्यक्ति हुई है, वे भी मध्यकालीन राजनीति के स्वरूप को ही अधिक प्रकट करते हैं ।

राजाओं के शोषण और अत्याचारों से खिन्न गढ़वाली लोक मानस कभी अपने अन्तर में उभरते आक्रोश का आभास दिलाता तथा कभी राजाओं के अनुदार क्रिया-कलापों के आधार पर `विध्नी विजेपाल` जैसी संज्ञाओं से अभिहित कर अपने क्षोभ को प्रकट करता है । साथ ही मध्यकालीन सगुण भक्ति साधना से प्रेरित होकर आदर्श राजा की कल्पना कर तत्कालीन राजनीतिक व्यवस्था के प्रति अपना अप्रत्यक्ष विरोध प्रकट करता है । `नागराजा` की गाथा में कृष्ण ऐसे ही आदर्श राजा के रूप में चित्रित किये गये हैं, जो अपनी

प्रजा के दु:ख से दु:खी होते हैं, वे अनाथों के पालक हैं तथा उनके नाम-स्मरण से ही समस्त दु:खों का निवारण हो जाता है -

तेरो नऊं लीक संकट कटेंदी
विपदा कटेंदी
दु:ख होंदो दूर, काया होंदी कंचन
दूना रैंन भगवान राडू का मालिक
कोरों का बाप अनाथों का नाथ
नंगा देखी खाणों नि खायो
भूखा देखी वस्त्र नी लायो ।[१]

`नागराजा` की गाथा में कृष्ण गर्वियों का गर्व तोड़ने के लिए कभी `घुनार` (नाव पार करानेवाला) का रूप धर कर रुक्मणी को भेना(जीजा) बोलने पर मजबूर करवाते हैं तो कभी `चुरेड़` (निम्न जाति का चूड़ी बेचने वाला) बन कर उसका हाथ पकड़ते हैं और `भेना` (जीजा) कहने के बाद ही छोड़ते हैं ।

इस गाथा में उच्च जातियों के मिथ्या अहं को तोड़ते हुए कृष्ण निम्न तथा उपेक्षित जातियों को सामाजिक समानता और न्याय दिलानेवाले आदर्श राजा हैं ।

`जगदेव पंवार` गाथा में कैड़ी कंकाली अपनेउदारवादी शासन के कारण प्रजा के पद पर पहुंच जाती है --

भूखों तईं खिलौंदी छई रोंदों चप्यौंदी
भूखों देखी अन्न निछे खांदी

---

१. नागराजा गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २६४

नंगों देखी वस्त्र निछे लांदो
मालसीगढ़ का लोग बीं ताईं तब
आंख्यों मां पूजदा छ्या ।[१]

'जगदेव पंवार' एक ऐसी गाथा है जिसमें साहसी, पराक्रमी एवं दानशील राजा को ही महान राजा बताया गया है । जो राजा हर समय अपनी प्रजा के हितार्थ बलिदान देने के लिए प्रस्तुत रहता है, वास्तव में पृथ्वी का उपभोग वही कर सकता है ।

जयदेव और जगदेव दो भाई थे । दोनों ही अपने-अपने राज्य शासन में व्यस्त रहते थे । एक बार देवताओं ने उनकी परीक्षा लेने के लिए `कंकाली` को उनके पास भेजा । वह पहले जगदेव के बड़े भाई जयदेव पंवार के पास गयी और उससे प्रजा के लिए कुछ दान देने की याचना की । लेकिन वह स्वयं दरबारियों का भेष बनाकर उससे कहला देता है कि राजा शिकार के लिए गया है । फिर वह छोटे भाई जगदेव पंवार के पास जाती है और उससे कुछ दान देने को कहती है । जगदेव सोचता है कि सबसे उत्कृष्ट दान क्या दिया जाय ? उसकी रानी उसे अपना सिर देने को कहती है । वह तुरन्त ही अपनी तलवार से अपना सिर काट कर उसे दान दे देता है । देवता प्रसन्न होते हैं और उसे पुन: जीवित करके गढ़वाल का सम्पूर्ण राज्य दे देते हैं --

बचन चले दिल राईं जैसिंह समाईं
बचन रहा जगदेव पंवार का
जिसने सर काट कंकाली को दिया
गढ़वाल देस को राज किया ।[२]

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० १६३
२. वही, पृ० १६६

कहने का भाव यह है कि गढ़वाली लोक समाज जिन राजनैतिक-मूल्यों की निर्मिति अपनी कल्पना में कर रहा था, वे उसके आदर्श मूल्य थे, लेकिन राजदरबारों में जिन मूल्यों को प्रश्रय मिल रहा था, वे पूर्णत: पतनशील दरबारी संस्कृति के द्योतक थे तथा राजाओं के विलासी जीवन पर आधारित थे ।

राजनीति में नारी की भागेदारी का उल्लेख भी गढ़वाली लोक-गाथाओं में मिलता है । कहीं वह एक पत्नी के रूप में अपने पति के साथ राजनीति में सहयोग करती दिखाई देती है तो कहीं स्वतंत्र रूप से शासन व्यवस्था का संचालन करती है । `तिलूरौतेली` गाथा में कत्यूरियों के आक्रमण के समय `तिलू ` के पिता `भूपू` और उसके दोनों भाई लड़ाई में मारे जाते हैं । उस समय `तिलू ` केवल पन्द्रह बरस की थी । `तिलू ` जब राजनीतिक रूप से समझदार होती है तो वह कत्यूरियों से लोहा लेती है । उसने गढ़वाल के कई गढ़ों को जीत कर आठ साल तक शासन किया । गढ़वाली लोकगाथाओं में इस तरह के प्रसंग यद्यपि कम हैं, किन्तु उनमें नारी सम्बन्धी परम्परागत मूल्यों के अस्वीकार की प्रतिध्वनि का भाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है ।

राजा-प्रजा सम्बन्ध

प्रजा के साथ राजा के सम्बन्ध बहुत अधिक उदार न होने पर भी गढ़वाली लोक समाज में कभी भी राजा के प्रति उग्र असन्तोष नहीं दिखाई देता । इसका कारण यह है कि वे राजा को भगवान का अवतार मानते थे । राजा मेदिनी शाह के बारे में तो एक कथा ही प्रचलित है कि एक बार देशी राजाओं ने यह निश्चय किया कि कुम्भ पर्व के अवसर पर गढ़वाल के राजा का सबसे पहले स्नान करने के महत्त्व को छीन लिया जाय अर्थात् उसे पहले न नहाने दिया जाय । यदि वह जबरदस्ती करे तो शस्त्र काम में लाये जाएं । यह बात जब राजा मेदिनी शाह तक पहुंची तो राजा ने अन्य विपक्षी राजाओं को कहला भेजा

कि `इस परम पावन पुण्य क्षेत्र में रक्तपात करना क्षत्रियों का काम नहीं है । अत: आप लोग पर्व पर जब चाहें कुण्ड पर स्नानकरें । यदि गंगाजी को मेरा महत्व रखना होगा तो मेरी गंगा स्वत: मेरे पास आ जायेगी ।` पर्व के दिन प्रात:काल को देखा गया कि गंगा की धारा पलट कर राजा मेदिनी शाह के डेरे के पास बह रही है । तब राजा को बद्रीनाथ का अवतार जान कर अन्य सब राजा लोग और यात्री गण राजा के दर्शन को गये औरउनसे क्षमा मांगी ।[१]

इस दृष्टान्त में प्रजा का राजा के प्रति समर्पण का भाव ही अधिक दिखाई देता है ।

गढ़वाली लोक गाथाओं में केवल राजा ही अपनी प्रजा की रक्षा हेतु तत्पर नहीं रहता, बल्कि प्रजा भी राजा की रक्षा करना अपना कर्त्तव्य समझती है । `रणौंत` गाथा में राजा के आह्वान करने पर कि मेरे राज्य पर बाहरी योद्धाओं ने धावा बोल दिया है --

मेरा राज पर कैन त्यो धावा बोले ?
मेरो गढ़वाल मां कु इन मालू होलो
जू मैर का मालू तै जीतिक लालू ।[२]

रणुरौंत अपने राजा के आह्वान पर सहर्ष युद्ध भूमि के लिए चल पड़ता है --

राजा को आदेश पैक रणु चली गे ।[३]

---

१. गढ़वाल का इतिहास - पं० हरिकृष्ण रतूड़ी, पृ० १६०
२. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त `शैलेश`, पृ० १६८
३. वही, पृ० २००

सामान्य प्रजा का राज-परिवार के साथ मधुर या सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध भी गढ़वाली लोकगाथाओं में यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं । प्रजा राज परिवार को इतना अधिक सम्मान और श्रद्धा देती है कि सामान्य नागरिक की हैसियत से यदि कोई नागरिक राजा की पुत्री से प्रेम सम्बन्ध स्थापित करे तो स्वयं जनता उसे स्वीकार नहीं करती । राजा की पुत्री से प्रेम करने के लिए या विवाह करने के लिए राजकुमार होना आवश्यक है । `मानु मफिलो ` गाथा में कालूनीकोट के राजा सज्ञ कालूनी की पुत्री अमरावती से मानु प्रेम करता है तो यह बात वहां की जनता को नागवार गुजरती है --

> च्याले छोरा भूत जनो आये
> आज राजा की नौनि दगड़े खेल बोल कर्द ।[१]

राजाओं की आपसी दुश्मनी और संघर्ष के कारण राज्य की जनता को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ता था, जिससे राज्य की शक्ति तो कम होती ही थी, बेहतर शासन की सम्भावनाएं भी प्राय: क्षीण हो जाती थीं । ऐसी परिस्थितियों में अमरावती का (रणू रौत की गाथा में) आपस में लड़ने के बजाय पूर्व प्रसंग बेटे को सुनाकर उसकी शक्तियों को दुश्मन से बदला लेने के लिए उपयोग में लाने की बुद्धिमत्ता का परिचय देना, तत्कालीन शासन व्यवस्था को स्पष्ट करता है ।

गढ़वाली लोक-गाथाओं में ऐसे क्रूर और कठोर राजाओं का वर्णन भी मिलता है जो अपनी प्रजा पर अनेक अत्याचार करते हैं । अपने भोगवादी मूल्यों के कारण वे अपने विलासी जीवन में किसी प्रकार के अवरोध को सहन नहीं कर सकते । यहां तक कि कभी-कभी तो स्त्री भोग ही उनके लिए राज्य

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २१०

और प्रजा से अधिक महत्वपूर्ण होता है । `गढ़ू सुम्याल' में गढ़ू स्त्री के लिए अपने ताऊ और उसके सात पुत्रों को मार डालता है तथा `भानु भँपिलो' की गाथा में `भानु' स्त्री प्राप्ति के लिए अपने श्वसुर तक की हत्या कर देता है ।

अनेक प्रकार केऐसे कठोर करों का उल्लेख भी गढ़वाली लोक गाथाओं में मिलता है जो राजाओं की क्रूरता और शोषण को ही उजागर नहीं करते वरन् उस पूरे सामन्तीय वातावरण के बेढ़बपन को भी उजागर करते हैं, जिसमें हर प्रकार के पतनशील राजनैतिक मूल्य पुष्ट और पल्लवित हो रहे थे । पं० हरिकृष्ण रतूड़ी ने अपनी पुस्तक `गढ़वाल का इतिहास' में ऐसे राजाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है --"इन्होंने राज्य कर्मचारियों को ही तंग नहीं किया, बल्कि प्रजा को भी पीड़ित किया । इन्होंने नये-नये कर लगाए, जैसे `स्यूंदी सुप्पा' - जितनी स्त्रियां घर में हों उतने सूप (छाज) भर कर अन्न राजा के भंडार में देना, `चुल्लकर' - अर्थात् जितने चुल्हे घर में हों, उतने रुपये दरबार में दाखिल करना ।"[१]

जीतू रावगढ़वाल को एक ऐसा ही क्रूर राजा बताया गया है, जो बांझी (जो दूध नहीं देती) भैंसों का कर, उजड़े घराटों (पन-चक्की) का कर तथा अविवाहित कन्याओं का कर लेता था --

अणव्याई बेटी को ठाकुरमासी खाये ।
बांजा घट्ट को वैन मग्वाड़ी उगाये ।
ऊं बांझा भैंस्यों को पालोलिने परोठो ।[२]

ऐसे राजा के प्रति लोक सीधे-सीधे विरोध के तेवर तो नहीं अपनाता है, लेकिन उसके पतन को उसके द्वारा किए गए अत्याचारों और शोषण का

---

१. गढ़वाल का इतिहास - पं० हरिकृष्ण रतूड़ी, पृ० १६१
२. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश', पृ० १८२

ही परिणाम मानता है । लोक विश्वास के अनुसार दुराचारी, मदोन्मत्त, बावरे जीतू का अन्त में दैवीय शक्ति द्वारा विनाश होता है --

बावरो नी होन्दुजीतू
नी होन्दू विणास ।[१]

गढ़वाली गाथाओं में अराजकतावादी राजनैतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होती है । किसी भी शक्तिशाली राजा का उसके आतंक के भय से किसी भी कन्या से विवाह कर लेना इसी अराजक स्थिति की चरमावस्था का द्योतक है । `मालू राजुला` की गाथा में जालंधर देश का राजा `विध्नी विजैपाल` गढ़वाल के राजा सोनशाह की पुत्री `राजुला` की सुन्दरता की चर्चा सुनकर उसे जबरदस्ती व्याह कर ले जाना चाहता है --

जलन्धर देश मा रैंद छा विधनी विजैपाल
राजुला की चारजोई सूणी तब तैंन
घूमदा - घूमदा आई गैन शौक्यानी देश मा ।
+ + +
राजुला क डोला हमन जलंधर देश पौंछाण ।
दैंदि छे ससुरा त कट दे जुबान ।
नितर तेरो सौक्यानी राजा बांजा ह्वोला ।।[२]

आशय यह है कि राजनैतिक दृष्टि से उथल-पुथल और अस्थिरता के उस युग में गढ़वाली लोक-समाज पदाक्रांत और पीड़ित ही था । कभी प्राकृतिक प्रकोप, कभी बाहरी आक्रमणों और कभी स्वयं अपने राजा के अत्याचारों से कुचली

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० १८८
२. वही, पृ० २३१

जनता का अस्तित्व राजनैतिक दृष्टि से बहुत महत्व नहीं रखता था ।

पंचायत और मुखिया

प्राचीन काल में ग्राम का शासन ग्राम की पंचायत द्वारा संचालित होता था जिसमें चुने हुए अथवा प्रथानुसार विभिन्न जातियों के प्रतिनिधि या सामान्य वयोवृद्ध जन होते थे । सम्मति प्रदान करने वाली संस्था के रूप में पंचायत के साथ ग्राम का मुखिया होता था । वैदिक युग में जनता के हर व्यक्ति के हाथ में सत्ता थी, इसका प्रमाण अज्ञात काल से चली आ रही `पंचायत प्रणाली` है । वैदिक काल में `पंचायत` शब्द नहीं मिलता परन्तु उस काल के साहित्य से इतना पता अवश्य चलता है कि उस समय स्वायत्त शासन था । आर्य लोग गांव में निवास करते थे । ग्राम का एक मुखिया होता था जो ग्रामणी कहलाता था । यह ग्रामणी ही अपने गांव का प्रतिनिधि होता था । ग्राम अनेक कुटुम्बों का एक समूह होता था । राज्य की इकाईयों में ग्राम के पश्चात् `विश` और `विश ` के पश्चात् `जन` का क्रम आता है । जिस प्रकार एक परिवार में सबसे वृद्ध व्यक्ति का शासन होता है, उसी प्रकार जनरूपी बड़े परिवार में भी एक मुखिया का शासन होता था ।[१] जब किसी एक स्थान पर आर्यों की बस्ती बस जाती थी, तब उसे जनपद कहा जाता था । और उसके राज्य को `जान राज्य` कहा जाता था ।[२] `जान राज्य` का अर्थ है जनों का - हर व्यक्ति का राज्य - जनता का राज्य । जनता के अंग थे चार वर्ण - ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र - जिन्हें आर्य कहा जाता था। जब आर्यों ने आर्येतरों को भी अपने में सम्मिलित कर लिया तब जनता को `पंचजना:` कहा जाने लगा ।[३] पंचायत का आधारभूत विचार यही प्रतीत

---

१. भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास : डा० सत्यकेतु विद्यालंकार, पृ० १३०
२. भारत की जनजातियां तथा संस्थाएं : सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, पृ० ७२७
३. वही, पृ० ७२८

होता है । जनता पांच वर्गों में विभक्त थी, जिसे `पंचजना` कहते थे और वे स्वयं शासन करते थे जिसे `जानराज्य` कहते थे । `पंचजना` और `जानराज्य` के भाव से `पंचायत` शब्द उत्पन्न हुआ ।

वैदिक काल की यही ग्रामीण व्यवस्था भारत के ग्रामों में निरन्तर बनी रही । रामायण महाभारत काल में भी शासन की निम्नतम कड़ी ग्राम थी । उसका मुखिया `ग्रामणी` और उसी तरह के दश ग्रामों का शासक `दशग्रामी`, ९ बीस का `विंशत्यि`, सौ का `शतग्रामी` तथा हजार का `अधिपति` कहलाता था ।[१] ग्राम में शांति बनाये रखना, ग्रामीण लोगों के झगड़े निपटाना, सफाई तथा ग्रामीण जनता के अन्य मामलों की देखभाल करना, ग्राम द्वारा राज्य को चुकाये जानेवाले सामूहिक भूमिकर में प्रत्येक कृषक परिवार का भाग निर्धारित करना तथा उसे ग्राम की ओर से एकत्रित करना,उस परिधि में सम्मिलित गोचर भूमि तथा वन क्षेत्र की व्यवस्था करना आदि पंचायत और मुखिया के प्रमुख कार्य होते थे ।

भारत में शक, हूण, तुर्क, मंगोल, अफगान और मुगल आये । उनके साम्राज्य स्थापित हुए परन्तु ग्रामों पर उनका प्रभाव अधिक नहीं पड़ा । उन्होंने पंचायतों के कार्य में हस्तक्षेप करना उचित नहीं समझा, क्योंकि ऐसा करने से सारे देश की शासन व्यवस्था अस्त-व्यस्त हो जाती । यही कारण है कि भिन्न-भिन्न राज्यों और संस्कृतियों का आगमन होने पर भी यहां का ग्रामीण जीवन ज्यों का त्यों बना रहा । अंग्रेजों के आने से पंचायत राज्य की यह व्यवस्था टूट गयी ।

ब्रिटिश सरकार ने विभिन्न शाखाओं - उपशाखाओं में अपने शासन का जाल गांवों तक फैला दिया था । पुलिस, पटवारी, अमीन, तहसीलदार, कानूनगो आदि अनेक अधिकारी गांवमें पहुंचने लगे । इस प्रकार आर्थिक,सामाजिक

---

१. प्राचीन भारत का इतिहास : डा० भगवतशरण उपाध्याय, पृ० ७३

और न्याय के क्षेत्र में गांवों की स्वतंत्रता समाप्त हो गयी, जो कार्य पंचायतें करती थीं, उन्हें सरकार के विभिन्न अधिकारी करने लगे । उस समय दमन, शोषण का इतना अधिक आतंक था कि ग्रामीण जनता उसमें घुट कर रह गयी । भले ही परम्परा से प्राप्त अपनी शक्ति के अपहरण के कारण उसके भीतर क्षोभ की भावना रही हो किन्तु प्रत्यक्ष रूप से इस प्रकार की राजनीतिक चेतना के चिन्ह उस समय के ग्रामीण जीवन में दिखाई नहीं पड़ते ।

गढ़वाली लोक-साहित्य में शासनतंत्रीय एवं पंचायतों का उल्लेख, लोकोक्तियों एवं मुहावरों में अधिक मिलता है । कहीं पंचों के न्याय को जनता सिरमाथे रखती है --`पंच्चा मुख पणमेश्वर` (पंचों के मुख परमेश्वर) तो कहीं पंचायतों का अन्यायपूर्ण फैसला देना और पंचों का स्वार्थी रवैया जनता को खिन्न भी करता है --

`पंच भी परचमी ह्वेगीन` (पंच भी प्रपंची हो गये)

\+ \+

पंचो कू बगे सारो सेरो,
नाली दुमके गयो मेरो ?[१]
(पंचों के तो सारे खेत बहे, मेरे सिर्फ दो नाली (माप) खेत ?)

राजा पंचायतों के द्वारा अपने शासन को सुचारु रूप से चलाता था। इसके अतिरिक्त राजा `पधान` एवं `थोकदार` को भी नियुक्त करता था जो मालगुजारी से सम्बन्धित कार्य देखते थे । `पधान` गाँव के मुखिया के रूप में लगान वसूली करके `थोकदार` जो कि कई गाँवों का मुखिया होता था, के पास भेजता था । अपने इस अधिकार के कारण ये सामान्य जनता पर मनमाने अत्याचार भी किया करते थे । `गढ़ सुम्याल` में तलवार के बल पर मालगुजारी करने का वर्णन मिलता है --

---

१. गढ़वाली हिन्दी कहावत कोश - चन्द्रशेखर `आजाद`, पृ० १२१

`बार बरस को मामलो ऐला तैला सलाण रेगे ।
तेरा बाबू न तलवार मारे तू तलवार मारलो ।
तिन जाण बेटा तैला मेला सलाण, मामलो उगे लौण ।[१]

आर्थिक पक्ष : कृषि और व्यवसाय

लोक साहित्य में जिस प्रकार सामाजिक जीवन की झलक मिलती है, उसी प्रकार आर्थिक वैषम्य, जीवन की कटुता और दुःख पहुंचानेवाली सच्चाइयां भी उतनी ही तीव्रता और शक्ति के साथ प्रकट हुई हैं । जहां ग्रामीण जीवन में सुख वैभव की तरंगें उठती हुई दिखाई पड़ती हैं, वहां घोर निर्धनता, हीनता और दीनता का वीभत्स स्वरूप भी आंखों के सामने उपस्थित हो जाता है । गीतों में जहां सोने की थाली में भोजन करने और स्वर्ण शय्या पर शयन करने का वर्णन उपलब्ध होता है, वहीं पर भूख से तड़पते बच्चों के मर्मस्पर्शी चित्र भी श्रोता के हृदय को मर्मान्तक वेदना का अनुभव कराते हैं ।

भारत के अन्य प्रदेशों के ग्रामीण समाज की भांति गढ़वाल के लोगों की आर्थिक स्थिति वर्तमान समय में अधिक अच्छी नहीं कही जा सकती, आज न तो खेती में इतनी अधिक पैदावार ही होती है कि उससे जीवन सुचारु रूप से चल सके, और ना ही ग्रामीण उद्योग ही उन्नत हैं । बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण परिवार विभक्त हो गये हैं । उनकी भूमि का बंटवारा हो जाने से बहुत थोड़ी भूमि एक व्यक्ति के पास रह जाती है । संयुक्त परिवारों में परस्पर द्वेष एवं कलह के कारण भी आर्थिक वैषम्य बढ़ता है ।

गढ़वाल में कृषि एक सामूहिक प्रयास के द्वारा होती है । जीतू बगड्वाल की गाथा में धान की रोपाई शुरू करने के लिए जीतू अपनी बहिन को ससुराल से बुलवाता है और फिर उसी के हाथ से रोपाई की शुरुआत कर सभी सामूहिक

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश', पृ० २२३

रूप से रोपाई करते हैं । कहने का अर्थ यह है कि कृषि को बहुत ही उत्तम और श्रेष्ठ कर्म माना जाता था, लेकिन अब इस धारणा में काफी बदलाव आ चुका है ।

खेती अब व्यवसाय नहीं रह गयी है , जैसे कि गढ़वाली में कहावत भी है कि 'खेती ही राज करवाती है और खेती ही भीख मंगवाती है' (खेती ही राज रजौऊ अर खेती ही भीख मंगौऊ) । वह महत्व अब खेती का नहीं रह गया है । भारत में औद्योगीकरण के कारण गांवों से युवा वर्ग के शहरों की ओर पलायन ने न केवल गढ़वाल की कृषि व्यवस्था को छिन्न भिन्न किया है, बल्कि कृषि कर्म के प्रति एक ऐसी धारणा भी विकसित की है जो उसे गौण मानती है ।

तिब्बत और भूटान से व्यापार करने का प्रमाण गढ़वाली लोक-गाथाओं में मिल जाता है । बहुत ही दुर्गम रास्तों से गढ़वाल का व्यापार भूटान और तिब्बत के साथ होता था । एक मां तो अपने पुत्र को वहां जाने से रोकती हुई कहती है कि बेटा भूटान मत जा, वहां जो जाता है, वो कभी लौटता नहीं है । वहां तेरे पिताजी, तेरे बड़े भाई, तेरे दादा जी गये थे, लेकिन लौटकर कोई नहीं आया -

`नि जाणू सुरजू बाला तातां लूहागढ़ ।
तू छैं कुंवर मेरो इकलो यकन्तो
तेरो बाबू गै छौ बेटा बौड़ीक नी आयो
तेरा दिदा गैक्यो बाला घर बौड़ी नी आयो ।
तेरो दिदा बरमा रैगे बरमी दुग्युं पर ।[१]

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २५५

पंडित हरिकृष्ण रतूड़ी ने भी अपनी पुस्तक `गढ़वाल का इतिहास` में गढ़वाल की व्यापारिक स्थिति के बारे में लिखा है --`गढ़वाल के उत्तर में तीन मार्ग अर्थात् नीती, माणा और नीलंग भारत वर्ष और तिब्बत के बीच सम्बन्ध रखने वाले हैं । इन तीनों घाटियों के लोग तिब्बत में शपरंग, थोलिंगमठ, गढ़तोंग, ज्ञानि आदि मंडियों तक व्यापार करने के लिए जाते हैं । ये बहुत ही दुर्गम मार्गों से व्यापार करते थे ।`[१]

समय के साथ-साथ गढ़वाल की कृषि और व्यापारिक स्थिति में परिवर्तन आता गया जिससे वहां का लोक-समाज अनेकानेक कष्टों और विडम्बनाओं के बीच जीवन यापन करता रहा । कभी भयंकर अकाल और कभी राजाओं, सामंतों के स्वच्छाचारी व्यापार ने सामान्य जनता की असुविधाओं में वृद्धि की है । कृषि पर आश्रित जनता का अकाल पीड़ित होना और फिर तड़फ-तड़फ कर मरना उस मर्मान्तिक वेदना की अभिव्यक्ति है जो अन्तर्मन को सहसा आन्दोलित कर देती है --

`खिमसारी हाट मा, पड़े घुरमी अकाल,
तड़फी तड़फी मरीन, लोक उसड़-सा माछा,
स्वागीणा रांड हवेन, कोली का मरीन बाला
ज्वाती नी भुवां कैन, जिन्दगी नी भोगी,
तड़ी-तपड़ी करी, कमाई सब खाई याले ।`[२]

०

---

१. गढ़वाल का इतिहास : पं० हरिकृष्ण रतूड़ी, पृ० ५४

२. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २५६

चतुर्थ अध्याय

गढ़वाली लोक-गाथाओं में अभिव्यक्त सांस्कृतिक जीवन-मूल्य

किसी समूह के ऐतिहासिक विकास में जीवन-यापन के जो विशिष्ट स्वरूप विकसित हो जाते हैं, वेही उस समूह की संस्कृति हैं । दूसरे शब्दों में सीखे हुए व्यवहार प्रकारों की उस समग्रता को जो किसी समूह को वैशिष्ट्य प्रदान करती है, संस्कृति की संज्ञा दी जा सकती है । संस्कृति के कुछ पक्ष अभिव्यक्त और कुछ अनभिव्यक्त होते हैं तथा उनमें बौद्धिक एवं अबौद्धिक दोनों प्रकार के तत्वों का समावेश रहता है । संस्कृति सम्पूर्ण समूह तथा उस के विशिष्ट अंगों के व्यवहार प्रकारों की योजना निश्चित करती है । उसके माध्यम से व्यक्ति तथा विशिष्ट समूह यह जान सकते हैं कि कौन से व्यवहार और कार्य समाज को मान्य और स्वीकार्य हैं और कौन से नहीं ।

संस्कृति व्यक्तिमात्र अथवा थोड़े से व्यक्तियों की वस्तु नहीं होती । उसका विस्तार व्यापक और सामाजिक होता है । संगठित समूह में रहनेवाले मानव उसे अपनाते हैं । अपनी पुस्तक `मानव और संस्कृति` में डा० श्यामाचरण दुबे ने भी संस्कृति को सामाजिक यथार्थ पर आधारित बताया है --`वर्णित रूप में संस्कृति सामाजिक यथार्थ पर आश्रित एक ढांचा, आदर्श चित्र होती है । समाज के जीवन में जो विचार और व्यवहार लक्षित होते हैं, उनके आधार पर हम उन नियमों और सिद्धान्तों को शाब्दिक रूप देने का यत्न करते हैं जिन पर वह विशिष्ट संस्कृति आश्रित रहती है ।'[१]

---

१. मानव और संस्कृति : डा० श्यामाचरण दुबे, पृ० ६६

डा० सावित्री चन्द्र के अनुसार, 'संस्कृति एक मनुष्यकी थाती नहीं है, अपितु उसमें सम्पूर्ण समाज की भौतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं दार्शनिक सभी प्रकार की उपलब्धियां, विचारधारायें, मान्यतायें, विश्वास और उद्देश्य निहित हैं।'[१]

मोटे रूप में संस्कृति उन मूल्यों, विचारों, दृष्टियों तथा नियमों आदि का सामूहिक रूप है, जिससे समाज विशेष के लोग नियंत्रित होते हैं। संस्कृति को संस्कृत से जोड़कर कभी-कभी लोग इसका सीमित अर्थ लेने लगते हैं। ऐसे लोग संस्कृति और सभ्यता को प्राय: एक ही मान लेते हैं। आजकल जिस अर्थ में संस्कृति शब्द का व्यवहार किया जा रहा है प्राचीन काल में इस शब्द का यह अर्थ नहीं था। संस्कृत साहित्य में संस्कृति शब्द के प्रयोग के स्थान पर संस्कार और संस्क्रिया शब्दों का ही व्यवहार पाया जाता है, यद्यपि कुछ विद्वानों ने प्राचीन भारतीय साहित्य में संस्कृति शब्द के प्रयोग को खोजने का अथक प्रयास किया है, परन्तु प्राचीन ग्रन्थों में जो संस्कृति शब्द उपलब्ध होता है, वह वर्तमान अभिप्राय को प्रकाशित करने में नितान्त असमर्थ है। इसी बात को स्पष्ट करते हुए डा० कृष्णदेव उपाध्याय ने अपनी पुस्तक 'लोक संस्कृति की रूपरेखा' में लिखा है कि -'आजकल का संस्कृति शब्द अंग्रेजी के 'कल्चर' के समानार्थ वाची है, निरुक्ति की दृष्टि से 'कल्चर' शब्द की व्युत्पत्ति लैटिन भाषा के 'कोलर' (Colar) धातु से निष्पन्न 'कल्टूरा' (Gultura(शब्द से हुई है जो संक्षेप में पूजा करना तथा कृषि सम्बन्धी कार्य का क्रमश: बोधक है। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार किसी देश या समाज के विभिन्न जीवन व्यापारों या सामाजिक सम्बन्धों में मानवता की दृष्टि से प्रेरणा प्रदान करने वाले आदर्शों को ही संस्कृति कहते हैं।'[२]

---

१. समाज और संस्कृति : डा० सावित्री चन्द्र, पृ० १

२. लोक संस्कृति की रूपरेखा : डा० कृष्ण देव उपाध्याय, पृ० ११

संस्कृति और सभ्यता का अन्तर स्पष्ट करते हुए सुप्रसिद्ध मानव विज्ञान शास्त्री डा० डी० एन० मजूमदार ने लिखा है कि -"आज जिस प्रकार संस्कृति के लिए अंग्रेजी में 'कल्चर' शब्द का व्यवहार होता है, उसी प्रकार सभ्यता के लिए 'सिविलाईजेशन'(Civilisation) शब्द का व्यवहार होता है । इन दोनों के अन्तर को समझ लेना आवश्यक है । संस्कृति के अन्तर्गत मनुष्यों की नीति-रीति, लोक-विश्वास, आदर्श, कलाएं तथा मानव द्वारा उपलब्ध समस्त कौशल एवं योग्यताओं को लिया जा सकता है । सभ्यता मनुष्य के सामाजिक गुणों तथा बाह्य वैभव की द्योतिका है ।"[१]

सभ्यता और संस्कृति का घनिष्ठ सम्बन्ध बताते हुए हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है --"सभ्यता का आन्तरिक प्रभाव संस्कृति है । सभ्यता समाज की बाह्य-व्यवस्थाओं का नाम है, संस्कृति व्यक्ति के अन्तर के विकास का । सभ्यता की दृष्टि वर्तमान की सुविधा असुविधा पर रहती है, संस्कृति की भविष्य या अतीत के आदर्शपर । सभ्यता बाह्य होने के कारण चंचल है संस्कृति आंतरिक होने के कारण स्थायी । सभ्यता समाज को सुरक्षित रखकर उसके व्यक्तियों को इस बात की सुविधा देती है कि वे अपना आंतरिक विकास करें इसलिए देश की सभ्यता जितनी ही पूर्ण होगी, राजनीतिक संगठन जितना ही पूर्ण होगा, नैतिक परम्परा जितनी ही विशुद्ध होगी और ज्ञानानुशीलन की भावना जितनी ही प्रबल होगी, उस देश के निवासी उसी परिणाम में सुसंस्कृत होंगे, इसलिए सभ्यता और संस्कृति का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है ।"[२]

आशय यह है कि एक ओर सभ्यता और संस्कृति में अन्तर भी है, लेकिन समाज विकास की धारा में दोनों आवश्यक रूप से एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में जुड़े

---

१. एन इन्ट्रोडक्सन टु सोशल एन्थ्रोपालाजी : डा० मजूमदार तथा टी० एन० मदान, पृ० १४

२. सन्दर्भ : भाषा और संस्कृति : भोलानाथ तिवारी, पृ० ३४ प्रभात प्रकाशन, दिल्ली, १९८४

हुए भी हैं। यदि गहराई और विस्तार से देखें, तो एक ओर भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान आदि संस्कृति से सम्बद्ध हैं, दूसरी ओर परिवेश सम्बद्ध है जिसमें समाज, वनस्पति, भूगोल आते हैं। तीसरी ओर धर्म, दर्शन, अंधविश्वास, टोना-टोटका तथा पौराणिक मान्यतायें आदि संस्कृति से जुड़े हुए हैं, तो चौथी ओर परम्परा, इतिहास, रीति-रिवाज, खान-पान, कपड़े, आभूषण आदि।

संक्षेप में, संस्कृति मानव जीवन के बाह्य, आन्तरिक, बौद्धिक, नैतिक तथा धार्मिक जीवन को अभिव्यक्त करती है। आंतरिक और बाह्य जीवन और मन एवं कर्म का सामंजस्य ही संस्कृति के मूल में स्थित है। सांस्कृतिक मूल्यों की चर्चा करते हुए डा० नगेन्द्र लिखते हैं, 'सांस्कृतिक मूल्यों से अभिप्राय उन तत्वों से है, जो सत्य के संधान और सिद्धि में सहायक होते हैं, जीवन की कल्याण साधना अर्थात् नैतिक और आत्मिक विकास में योगदान करते हैं और सौन्दर्य चेतना को जागृत एवं विकसित करते हैं।'[१]

कहने का अर्थ यह है कि समाज की आन्तरिक चेतना एवं बाह्य परम्पराएं जो समाज के जीवनानुभव और व्यवहार से जुड़ी हुई हैं, संस्कृति है। लोक जीवन में संस्कृति को प्राय: दो स्तरों पर देखा जा सकता है। एक - संस्कृति का बाह्य स्वरूप, जिसमें दैनिक जीवन से सम्बन्धित कर्म आ जाते हैं। जैसे खान-पान, वस्त्राभूषण, मनोरंजन आदि। दूसरा - संस्कृति का आंतरिक स्वरूप, जिसमें धार्मिक मान्यतायें, अंधविश्वास और संस्कारों से सम्बन्धित मान्यतायें आदि आ जाती हैं। संस्कृति का निर्माण सामाजिक परिस्थितियों के बीच समाज की इच्छाओं, आकांक्षाओं और व्यवहारों के अनुरूप होता है। डा० सावित्री चन्द्र के अनुसार, 'समाज के अभिप्रेत मूल्यों या संस्कृति के प्रतीकों के बनने में जहां एक ओर देश-विशेष, काल-विशेष, जाति-विशेष की पौराणिक कथायें, धार्मिक विश्वास, जो मुख्यत: अपनी उपयोगिता के कारण विकसित हुए हैं, प्रभाव डालते हैं, वहां

---

१. सन्दर्भ : नयी कविता में मूल्य बोध : शशि सहगल, पृ० १२६

दूसरी ओर उस देश की भौतिक अवस्था, वैज्ञानिक स्थिति तथा क्रियात्मक उपलब्धियाँ भी मूल कारणों का काम करती हैं ।[१] अत: किसी लोक समाज की संस्कृति का अध्ययन उसकी ऐतिहासिकता और सामाजिक परिप्रेक्ष्य के साथ ही की जानी चाहिए ।

संस्कृति का बाह्य स्वरूप

लोक जीवन की सबसे बड़ी विशेषता उसकी स्वाभाविकता है । इसके असली रूप को जानने के लिए लोक-जीवन के अध्ययन की आवश्यकता है । यह लोक जीवन किसी भी समाज की पृष्ठभूमि है और उसका मूल प्रेरणास्थल है । यही अवचेतन मानस की भाँति जाति और समाज के समस्त जीवन को संचालित करता है । हमारे गाँव किसी समय अत्यन्त स्वस्थ एवं संस्कृत थे, उनकी सीधी-सादी वेश-भूषा, आहार-व्यवहार, रहन-सहन आदि समस्त भारतीय संस्कृति के परिचायक बनकर `सादा जीवन उच्च विचार` लोकोक्ति के रूप में प्रकट हुए । गढ़वाली लोक-जीवन इसी अध्ययन की कड़ी है । इस क्षेत्र के जन-साधारण की वेश-भूषा, भोजन, रहन-सहन आदि का अध्ययन गढ़वाली लोक गाथाओं के माध्यम से यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है ।

वेश-भूषा

गढ़वाली लोक-गाथाओं में यहाँ के ग्रामवासियों के विभिन्न वस्त्रों एवं आभूषणों के पहननेका उल्लेख पाया जाता है । इन्हें दो सामान्य भागों में विभक्त किया जा सकता है -- (१) विशेष अवसर पर प्रयोग किये जानेवाले वस्त्राभूषण एवं (२) सामान्य रूप से प्रयुक्त वस्त्राभूषण । इसके अतिरिक्त स्त्रियों एवं पुरुषों के आधार पर भी वस्त्राभूषणों का विभाजन किया जा

---

१. समाज और संस्कृति : डा० सावित्री चन्द्र `शोभा`, पृ० १

सकता है । यह कहना तो अधिक उचित न होगा कि जिन वस्त्रों एवं आभूषणों का उल्लेख गढ़वाली लोक गाथाओं में उपलब्ध है, वे सबके सब यहां की जनता में आज भी प्रयुक्त किये जाते हैं, किन्तु इस उल्लेख से इतना तो निश्चित हो जाता है कि गढ़वाली जन-समाज उन सबसे परिचित है ।

गढ़वाली क्षेत्र में स्त्रियां सामान्यत: लहंगा, ओढ़नी, धोती, कमीज, ब्लाऊज, चोली, घाघुरी, अंगिया आदि वस्त्रों का प्रयोग करती हैं । `आंगड़ी` और `टालखी` स्त्रियों में इतनी अधिक प्रिय थी कि एक पति अपनी पत्नी को खुश करने के लिए परदेश से उसके लिए `आंगड़ी` और टालखी` लाने का उलाहना देता है --

मैना दुय्येक मां घर बोलो
आंगड़ी टालखी त्वेक लोलो ।[१]

इसी तरह से `घाघुरी` पहने का प्रचलन भी गढ़वाल में बहुत अधिक था --

लोसेन्दी घाघुरी पैरी वीन, सुवा पंखी घरे,
हिंवालू मां नन्दा जसी गागर लीक पाणीक गैगे ।[२]

पुरुषों द्वारा प्रयुक्त वस्त्रों में कमीज, कुर्ता, धोती, साफा या पगड़ी और अंगोछा आदि हैं । इस क्षेत्र के अधिकांश लोग कृषक हैं । अतएव उनकी वेश-भूषा सीधी-सादी और सरल है । लेकिन पंवारों या वीरगाथाओं में जिन वीर पुरुषों के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है, उनमें वीरोचित विशेष प्रकार के वस्त्रों का वर्णन है ।

---

१. `जसी गाथा` : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २४७
२. वही, पृ० २४८

आभूषण

गढ़वाल जनपद के निवासी विभिन्न आभूषणों का प्रयोग करते हैं, स्त्रियां विशेषकर आभूषण-प्रिय होती हैं । वे कपड़ों से भी अधिक गहनों को चाहती हैं । स्त्रियों के अतिरिक्त बच्चे एवं पुरुष भी आभूषणों को धारण करते हैं । कुछ आभूषण तो विशेष अवसरों पर ही प्रयुक्त होते हैं और कुछ ऐसे हैं जिन्हें निरन्तर व्यवहार में लाया जाता है । विवाह में वर पक्ष की समृद्धि का अनुमान उसके द्वारा लाये आभूषणों के आधार पर ही किया जाता है । विशेष अवसरों पर स्त्रियां हांसुली, सोन चूड़ी और `बेसर ` आदि धारण करती हैं --

`बिजोरिया हांसुली जोति, फंफरियाली बेसर ।`[१]

सुरजूकौल गाथा में सूरजू जब परदेश जाने को तैयार होता है तो उसकी बहिन सुरजी अपने भाई के विछोह से दु:खी होती है और आंसू बहाती हुई भाई से परदेश न जाने का आग्रह करती है । सूरजू अपनी बहिन को जल्दी लौटने और तातालुहागढ़ (स्थान का नाम) से उसके लिए `सोन चूड़ी` लाने का उलाहना देता है -

मिन जाण सुरजी भुली तातालुहा गढ़,
मी लौलु सुरजी त्वीकु मत्यागिरि सोना
मत्यागिरि सोना की त्वीकू सोनचूड़ी वणौलू ।[२]

कुछ आभूषण ऐसे होते हैं, जो निरन्तर धारण किये जाते हैं । इनमें बिन्दी, झुमकी, माला, पायजेब, बिछुआ आदि प्रमुख हैं ।[३]

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २८७
२. वही, पृ० २५६
३. वही, पृ० २४७

स्त्रियों के अतिरिक्त पुरुषों के आभूषणों का वर्णन भी गढ़वाली लोक-गाथाओं में प्राप्त होता है । ब्रह्मकाल गाथा में बरमी मोतीमाला के साथ जुवे में अपने सारे आभूषण हार जाता है --

तब हारीन बरमीन कानूं का कुण्डल,
तब हारीन बरमीन हाथूं का मणिबंध,
हाथों का मणिबंध गात का बस्तर ।[१]

खान-पान

गढ़वाली लोक-साहित्य में खान-पान के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण मिलता है। लोक गीतों में इसका सबसे अधिक उल्लेख हुआ है । इन गीतों में प्रस्तुत विवरण कहीं-कहीं तो इतना बढ़ा-चढ़ा कर किया गया है कि शायद ही ऐसी कोई खाने पीने की वस्तु हो, जिसका उसमें उल्लेख न हुआ हो । किन्तु सावधानी से अध्ययन करने पर उसमें भी वे तथ्य खोजे जा सकते हैं, जिनसे इस क्षेत्र के निवासियों की खान-पान सम्बन्धी अभिरुचि का पता लग सकता है ।

`अन्नमयं हि सोम्य मनः` लोकोक्ति से प्रकट होता है कि मनुष्य जो अन्न खाता है, उसी के अनुसार उसका मन होता है । गढ़वाली में यह कहावत इस प्रकार प्रचलित है -- `जन्न अन्न, तन मन्न` । इससे स्पष्ट है कि गढ़वाली जन-समाज अपने खान-पान के सम्बन्ध में सदैव सावधान एवं जागरूक रहा है । वस्त्र एवं आभूषणों की भांति खान-पान को भी दो सामान्य वर्गों में विभक्त किया जा सकता है -- (१) विशेष खान-पान, (२) सामान्य खान-पान ।

विशेष खान-पान यज्ञोपवीत, कंच्छेदन, विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों के समय प्रयुक्त होता है । किसी अतिथि के आने पर भी उसके लिए विशेष भोजन बनाया जाता है --

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २८७

पकाये मालकु निरपाणी खीर
सतपुत्या धोऊ दीने पाँडित्या दहं ।
खिलाये पिलाये वैन गढ़ू सुम्याल ।[१]

विभिन्न संस्कारों के अतिरिक्त होली, दीपावली आदि पर्वों, तीर्थ यात्रा के उपलक्ष्य में किए गये भोजन तथा देवी देवता के पूजन में भी विशेष प्रकार का भोजन बनता है ।

सामान्य भोजन में रोटी, भात, दाल, शाक आदि आते हैं ।

वस्तुत: गढ़वाल के लोगों की आर्थिक स्थिति अच्छी न होने पर भी वहां के निवासियों में यह परम्परा देखी जाती है कि विशेष अवसरों पर वे अपने ग्रामजनों एवं सम्बन्धियों को आमंत्रित करते हैं और उन्हें अनेक स्वादिष्ट भोजन करवाते हैं । इस तरह के कार्यों में प्राय: प्रदर्शन की भावना ही अधिक रहती है, जो परिवार इस तरह के आयोजनों पर भोज देने में असमर्थ रहते हैं, उन्हें सामाजिक उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है ।

रहन-सहन

गढ़वाल का लोक-जीवन प्रकृति के निकट-साहचर्य के कारण सीधा और सरल है । लेकिन गढ़वाली लोक गाथाओं में जिस तरह के रहन-सहन का वर्णन मिलता है, उसमें एक ओर तो राजाओं, सामन्तों का विलासी जीवन है और दूसरी ओर आम नागरिकों का सामान्य जीवन, सरल और सादे जीवन को सीमित साधनों के आधार पर जिस प्रकार बिताया जा सकता है, उसी का अनुसरण इस क्षेत्र के सामान्य नागरिक करते हैं । इनमें अनेक की ऐसी स्थिति

---

१. `गढ़ू सुम्याल` : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २३०

होती है, जो आधे ही पेट खाकर सो जाते हैं और जिनके पास शीत से बचने के पर्याप्त साधन तक नहीं हैं । लेकिन ऐसे समृद्ध लोग भी हैं, जो सोने के पलंग और रेशमी सेज पर शयन करते हैं ।

बैठायो को रंग ते को कोठायं टूटद,
सोवन सिन्चाली जैकी रूपा की पैदधाणी ।[१]

दरबारी वैभव को व्यक्त करनेवाले विलासी जीवन की एक और झाँकी इस प्रकार है --

सुकली कोप्डी लगी सुतरी पलंग ।
सुतरी पलंग गेलुवा विछोणा ।[२]

मनोरंजन

श्रम से भरपूर और व्यस्त जीवन में भी गढ़वाल के लोग मनोरंजन के कुछ क्षण जुटा लेते हैं । मेलों और उत्सवों पर तो मनोरंजन होता ही है, किन्तु अनेक सांस्कृतिक तथा धार्मिक आयोजन भी उनके कर्मठ जीवन में सरसता का संचार करते रहते हैं । वैसे तो वहाँ का प्राकृतिक वातावरण वहाँ के लोगों के जीवन में संगीत की सरसता भर देता है, इस समस्त प्रदेश की गिरि-कन्दराएं एवं उपत्यकाएं वहाँ के लोकगीतों की मधुर गूंज में डूबी हुई रहती हैं । इसके अतिरिक्त प्राय: जाड़ों की रात में एकत्र होकर लोग प्राचीन जीवन की गाथाएं `मंडाण ` के रूप में गाते हैं । इस प्रकार श्रम और संघर्ष भले ही हों, किन्तु लोग जीवन में अपने प्रति उदास नहीं होते । सामाजिक जीवन में ऐसे

---

१. सुरजूकोल : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य - डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २५४

२. चन्द्रावली हरण : वही, पृ० २७६

अवसर जुटा लेते हैं जिनमें उनको जी खोलकर हंसने और खुशी मनाने का अवसर मिल जाता है । विवाह, जनेऊ, नामकरण आदि के अवसरों पर भी मनोरंजन के विशेष आयोजन किए जाते हैं ।

नृत्य और संगीत को यद्यपि राज दरबारों की शोभा बढ़ाने का साधन माना जाता था, तथापि सामान्य जनता भी सामानान्तर रूप से नृत्य और संगीत में रुचि लेती थी । गढ़वाल में `बांसुरी` को विशेष महत्व दिया जाता है । एक स्थान पर तो एक युवती मुरली की धुन पर इतना अधिक मोहित होती है कि वह उसी से विवाह करने की हठ कर बैठती है --

सुण्याली तैन मुरली अनमन भांति
मन होइगे मोहित चित चंचल
मैं कुछ होई जाई मैन मुरल्याक जाण ।[१]

`पांसा` खेलने का उल्लेख भी गढ़वाली लोक-गाथाओं में मिलता है --

गाड़ीन जोतरा तिन, हस्ती दांत पांसा,
खेलण बैठीगे बाला, पांसड्यों को खेल ।[२]

सामन्ती समाज में शिकार खेलना भी मनोरंजन का साधन माना जाता है ।

अनेक लोक-गाथाओं में यह उल्लेख मिलता है कि राजा या राजकुमार शिकार खेलने के लिए जाते हैं । इससे स्पष्ट है कि ग्रामीण समाज, शिकार खेलने से परिचित था । जगदेव पंवार गाथा में जब कैड़ो कंकाली राजा जयदेव के

---

१. नागराजा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २६७
२. सूरजकोल - वही, पृ० २६१

पास भिक्षा के लिए जाती है तो उसके दरबारी उसे यह कहकर वापस लौटा देते हैं कि राजा शिकार के लिए गये हैं --

तब बोलदू वो-हे केड़ी कंकाली,
हमारू राजा शिकार जायूं छ ।[१]

विभिन्न पर्वों और विवाहादि के अवसरों पर मंगलगान की परम्परा भी गढ़वाल में देखी जा सकती है । सोम्याना देश के राजा की पुत्री के जन्मोत्सव के समय पूरे राज्य की प्रजा जन्मोत्सव का मंगलगान करती है --

सौम्याना देश मां मांगल ह्वया जायेणा,
राजा सोनशाहकी जरमी नरंगी राजुला
आनन्द बड़ई बजदी सौम्यानों कोट मां ।[२]

मेले, उत्सव तथा त्यौहार

गढ़वाल में दान, धर्म, तीर्थ यात्रा , पूजा पाठ आदि को बड़ा महत्व दिया जाता है । प्राय: यह देखा गया है कि गढ़वाल में अधिकांश पर्वत शिखरों पर देवी का मन्दिर और गहरी घाटियों में शिवालय हुआ करते हैं । इन स्थानों पर पवित्र तिथियों को मेले भी लगते हैं ।देवी की पूजा का एक विशेष कार्यक्रम `बैसी` (बाइस दिन तक पूजन) कहलाता है । यहां के जीवन में लोक देवताओं की भी मान्यता है जिनमें `गोल्ल `, `नृसिंह` आदि की बड़ी पूजा की जाती है । सूद्रों में `निरंकार` और `कैल विष्ट` नामक देवता की पूजा प्रचलित है ।

---

१. जगदेव पंवार - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० १६४
२. वही, पृ० २३०

अनेक मेले और त्योहार गढ़वाल के लोक-जीवन में सरसता लाते रहते हैं। लोग इन अवसरों पर रंग-बिरंगे कपड़े पहनते हैं। विभिन्न प्रकार के उत्तम भोजन बनाते हैं और अनेक प्रकार के आयोजन करते हैं। गढ़वाल में `गिन्दी` का तमाशा, ऐकेश्वर का मेला, पांडुकेश्वर का मेला, राधा-कृष्ण से सम्बन्धित सेम का मेला, उत्तरकाशी में मकर संक्रान्ति का मेला, अष्टमी को वीरत्व प्रदर्शनकरनेवाला बामणी का मेला प्रसिद्ध है।[१] इन मेलों का सांस्कृतिक महत्व तो है ही, व्यापार के लिए भी बड़े महत्व-पूर्ण हैं। लोग अपनी-अपनी आवश्यकता की छोटी-मोटी वस्तुएं इन मेलों में लगे हुए अस्थायी बाजारों से खरीद लेते हैं। त्योहारों में हिन्दुओं के आम त्योहार प्राय: सभी मनाए जाते हैं। रामनवमी, बैसाखी, मकर-संक्रान्ति, जौसंक्रान्ति, फूलदेई, होली आदि का विशेष महत्व है।

संस्कृति का वैचारिक पक्ष

धार्मिक मान्यताएं - समस्त भारतीय जीवन धर्म से अनुप्राणित है। यह शब्द इतना विराट एवं व्यापक है कि इसे किसी एक परिभाषा या व्याख्या में नहीं बांधा जा सकता। जीवन की अनन्तता की भांति ही धर्म की अनन्तता है। जीवन के ऐहिक और पारलौकिक - दोनों पहलुओं से धर्म सम्बन्धित है। अतएव धर्म उन सिद्धान्तों, तत्वों तथा जीवन पद्धति को कह सकते हैं, जिससे मानव समाज ईश्वर प्रदत्त शक्तियों के विकास से अपना ऐहिक जीवन सुखी बना सके। साथ ही मृत्यु के पश्चात् जीवात्मा जन्म मरण के फंफटों में न पड़कर शांति व सुख का अनुभव कर सके। अतएव धर्म उन शाश्वत सिद्धान्तों के समुदाय को कह सकते हैं, जिनके द्वारा मानव समाज सन्मार्ग में प्रवृत्त होकर तथा उन्नतशील बनकर अपने अस्तित्व को धारण करता है।

---

१. उत्तराखण्ड एक सर्वेक्षण : सं० गोविन्द चातक, पृ० ४६

गढ़वाली लोक समाज में धर्म का अद्भुत वैषम्य एवं वैविध्य प्राप्त होता है । उसमें कर्म के प्रत्येक अनुष्ठान में कितने ही तत्वों का संयोग मिलता है । समाजशास्त्रीय अध्ययन के द्वारा इस लोक-धर्म के विभिन्न स्तरों का अनुमान लगाया जा सकता है । यदि इन स्तरों पर दृष्टि डाली जाय तो पहला स्तर टोने-टोटकों का मिलेगा । किसी भी प्रकार का अनुष्ठान हो, कोई संस्कार हो, कोई उत्सव हो, एक न एक टोना या टोटका उसके साथ लगा होगा। दूसरे स्तर पर देवी देवताओं की भावना है । इन देवी देवताओं में पितरों की मृतात्माएं, मसान, विविध देवियां, भूत-प्रेत, हवाएं, संत फकीरों की मृतात्माएं तथा विभिन्न अन्य देवता सम्मिलित हैं । इनमें एक स्तर पर देवी-देवताओं के निवारण करने के टोटके रहते हैं तो दूसरे स्तर पर उनकी पूजा-उपासना रहती है । इनके ऊपर सामान्य धार्मिकता का आवरण रहता है । इसके अतिरिक्त प्रत्येक स्तर के अनुकूल मूर्तिविधान, पूजापाठ, मंत्र-पाठ, यज्ञ, पौरोहित्य कर्म आदि तत्व भी मिलेंगे । इन सभी धार्मिक मान्यताओं में मंगल और समृद्धि की भावना विद्यमान रहती है ।

गढ़वाली लोक-समाज मुख्यतया पंचदेवोपासक स्मार्त वैष्णव धर्म का अनुयायी है। राम, कृष्ण एवं शिव की पूजा यहां सर्वत्र प्रचलित है । रामनवमी, कृष्ण-जन्माष्टमी, शिव-त्रयोदशी के उपवासों के अतिरिक्त लोक-समाज में इन उपास्य देवों के प्रति अनेक भजन एवं कीर्तन गाये जाते हैं । अयोध्या, मथुरा एवं काशी आदि तीर्थ स्थानों के प्रति लोक-समाज की अखण्ड आस्था भी इस बात का द्योतक है कि जनता में भगवान के रूपों में से इन तीनों का प्रमुख स्थान है ।

उपर्युक्त देवी देवताओं के अतिरिक्त प्रत्येक गांव के अपने स्थानीय देवी-देवता होते हैं । इनमें भैरों, नृसिंह, नागराजा, निरंकार, क्षेत्रपाल आदि देवताओं एवं ज्वाल्पा, भुवनेश्वरी, सिद्धेश्वरी आदि ग्रामीण देवियां गिनाई जा सकती हैं । इसके अतिरिक्त प्रत्येक परिवार के भी अपने-अपने गृहदेवी एवं

देवता होते हैं । गढ़वाली लोक-गाथाओं में इन ग्रामीण देवताओं का वर्णन पर्याप्त मात्रा में मिलता है -

सुमिरन करद जीतू बगूड़ी मैरों,
करव ह्वेली मेरी कुलदेवी भवानी ?
आज मैं पर ऐगे विपदा भारी ।[१]

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि धार्मिक मान्यताओं के पीछे लोक-समाज में अन्धविश्वास को भी अत्यधिक प्रश्रय मिलता है।गढ़वाल में अनेक प्रकार के धार्मिक अंधविश्वास आज भी देखे जा सकते हैं ।

अन्धविश्वास

संस्कृति के विकास में सामाजिक अंधविश्वासों का स्थान महत्वपूर्ण होता है । सभ्यों से लेकर असभ्यों तक के सामाजिक जीवन में विशेष प्रथाएं दिखाई देती हैं । तंत्र-मंत्र साहित्य इस अध्ययन की एक महत्वपूर्ण कड़ी प्रस्तुत करता है । तंत्र-मंत्र भक्ति तत्व को विकृत करने वाले कहे जाते हैं परन्तु इनमें श्रद्धा का वह अंश रहता है जिसका मूल्य असाधारण है । संस्कृति का रूप आत्मा का रूप है । श्रद्धा, आस्था और विश्वास इसके अभिन्न अंग हैं । अत: किसी देश की संस्कृति के अध्ययन के लिए उसमें प्रचलित प्रथाएं, रीतियां, अन्धविश्वास, तन्त्र-मंत्र, टोने-टोटकों का अध्ययन आवश्यक है । अन्धविश्वास से लोक का सामाजिक जीवन आत्यन्तिक रूप से प्रभावित होता है । दैनिक कार्यों और विशेष अवसरों पर शकुन विचार किया जाता है। गढ़वाल में इसी तरह की एक धारणा प्रचलित है कि यदि किसी शुभ कार्य के लिए जाते समय बकरी छींक दे तो अपशकुन माना जाता है --

---

१. जीतू बगड़वाल गाथा - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० ४८६

नीजाण्यू जीतू त्वैक ह्वेंगे असगुन
तिला बाखरी तेरो ठक ह्यूंदी ।[१]

गढ़वाली लोक-समाज कर्मकाण्ड और पौरोहित्य में इतना अधिक विश्वास करता है कि कृषि जैसे कार्य के लिए भी उसे पुरोहितों का सहारा लेना पड़ता है --

सुदिन सुवार लंगुली को दिन
पातुड़ी की भेंट धरी, सेला चौंलि पाधी ।
घुलेटी की भेंट धरी, सोवन को टका
चलीगे शोभनू तब बरमा क पास ।[२]

विवाह से पूर्व वर और वधु की जन्म कुंडलियों का मिलान किया जाता है और ग्रहभेद, नाड़ी भेद आदि पर विचार किया जाता है । `राजुला मालूशाही` गाथा में इसी तरह का एक प्रसंग उपलब्ध होता है । मालू का विवाह राजुला के साथ तय हो जाता है । कुछ दिन बाद जब राजुला का श्वसुर स्वर्गवास होता है तो राजुला के `नाड़ी भेद` को ही श्वसुर की मृत्यु का कारण समझा जाता है --

पर राजुला को ह्यौं बल नाड़ी बेद
ससुरा तै तब वो पिड़ाये
राजा दोलाशाही स्वर्गवास ह्वेगे ।
मंत्री तंत्रियौंन इनों मंत्र करी
ई निरभागी ब्वारी क मांगण से

---

१. जीतू बगड्वाल - गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० १०४
२. वही, पृ० १८३

ससुरा मरी गये ।
या ब्वारी हमन कतहैं नि लोण्या ।[१]

अंधविश्वास कभी-कभी जीवन को अत्यधिक कटु बना देते हैं । लेकिन समाज में बहुत सी बातें सिर्फ इसलिए स्वीकार की जाती हैं क्योंकि वे स्वीकार की जाती रही हैं । उनके पीछे कोई तर्क नहीं होता ।

तंत्र-मंत्र

गढ़वाली क्षेत्र में प्रकृति पूजा, यज्ञ-पूजा, नागपूजा आदि का खूब प्रचलन है । भूमि का देवता `भूम्याँ` और शक्ति की देवी `भवानी` को यहाँ के सभी ग्रामीण जन पूज्य मानते हैं । वृक्षों एवं पुष्पों की पूजा भी प्रचलित है । लोक जीवन में इनकी मान्यता दो रूपों में मानी गयी है -- (१) हितकामना के लिए, तथा (२) अहित कामना के लिए । वस्तुत: सभी तंत्र-मंत्रों का सम्बन्ध भूत-प्रेत जैसी अनिष्टकारी आत्माओं से है। तंत्र-मंत्रों की विशिष्ट पद्धति से या तो भूत-प्रेतों को भगाया जाता है । उनके प्रभाव से ग्रसित व्यक्ति को मुक्त कराया जाता है अथवा उन्हें सिद्ध करके किसी शत्रु को हानि पहुंचाई जाती है । रोगमुक्ति, सर्प, बिच्छू आदि का विष उतारने, दूषित आत्मा को दूर करने तथा शत्रु को मारने या हानि पहुंचाने के उद्देश्य से इनका प्रयोग किया जाता है । `बुकौल` गाथा में जब बरमी पत्थर माला को ब्याहने नागलोक जाता है तो वह नाग द्वारा डस दिया जाता है और वह मूर्च्छित हो जाता है । तब सिद्धवा मंत्र और ताड़ा (अक्षत) देकर उसे पुन: जीवित कर देता है --

मारे वैन निल्लाट को ताड़ो
काऊंर की जड़ी लिल्लाट थाये

---

१. मालूराजुला : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २३०

खड़ो उठीगे तब लाडलो बरमो ।[१]

इन तंत्र-मंत्रों को कुछ तो साधारण लोग भी जानते हैं किन्तु इनके विशेष ज्ञाता `ओझा` या `गारुड़ी` कहलाता है ।

इनके अतिरिक्त विभिन्न जातियों के कुछ विशेष लोग भी इनसे परिचित होते हैं । प्राय: वे सभी जातियां निम्न वर्ग की होती हैं, किन्तु अपने मंत्रों की शक्ति के कारण वे ग्रामीण समाज में बड़े सम्मानित और विख्यात रहते हैं ।

जादू-टोना

उपर्युक्त विवेचना से स्पष्ट है कि मंत्र औरटोने का घनिष्ठ सम्बन्ध है । टोने अथवा जादू का आन्तरिक सिद्धान्त यह है कि समस्त प्रपंच किन्हीं परामानवीय शक्तियों से जो नियमों में बंधकर चलती है, संचालित होता है । अनुष्ठानों और जन्त्र-मंत्र से उस शक्ति या शक्तियों को विवश करके अपने मनोनुकूल फल प्राप्त किया जाता है । यह भावना धर्म भावना से विरुद्ध है, इसलिए स्तुति और मंत्र को अलग-अलग माना गया है । स्तुति द्वारा देवताओं को प्रसन्न किया जाता हैजिससे अभीष्ट की पूर्ति हो । किन्तु मंत्र अपनी शक्ति से विवश करके उस शक्ति से अभीष्ट पूर्णकरवाता है । जादू और टोने का प्रयोग दूसरों को वस में करने के लिए, अपने कार्य की सिद्धि के लिए और शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए किया जाता है । गढ़वाल में भी इस तरह के जादू-टोने का प्रचलन था और न्यूनाधिक रूप से आज भी दिखाई देता है । `सूरजू कैंलै` गाथा में सूरजू जब जोतर माला को लेने हूणियों का

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २६२

देश भोट्टन्त पहुंचता है तो वह शत्रुपक्ष को शक्तिशाली समझ कर उन पर मां काली का जाप करता है, जिससे वह जोतर माला तक पहुंचने में सफल हो जाता है --

पौंछिगे सुरजू हूणियों का देश,
फेंक्याली सुरजू तिन पजाबी चुंगठी ।
पोड़िगे राक्सु जब मां काली को ज्वाप ।[१]

रास्ते में सुरजू को विष्कन्यायें घेर लेती हैं और वह मूर्छित होकर गिर पड़ता है । गुरु गोरखनाथ उसे स्वप्न में देखते हैं तथा संजीवनी विधा का प्रयोग कर उसे विष कन्याओं से मुक्त करते हैं --

तब जांद सूरजु तब गुरु का सुपीना,
रै गऊं गुरुजी आज विष्ठली काठ्यूं
गाड़ियाल गुरु न संजीवनी विधा
हैं सदा ज्यूंदाल गाड्या अमृत की तुंबी
मारिने ज्यूंदाल बालों बबरेक बोजि ।[२]

इस तरह के जादू-टोने की प्रथा प्राय: हर लोक-समाज में दिखाई देती है । गढ़वाल में `बोगसाड़ी` विधा का भी प्रचलन था । इस विधा को जानने वाला व्यक्ति अपना रूप परिवर्तनकर अपने कार्य की सिद्धि किया करते थे । वर्तमान में इस तरह की विधा प्राय: नहीं मिलती है, लेकिन इस पर जो कहानियां आज भी लोक-मानस में संचित हैं, उनसे पता चलता है कि कभी न कभी इस विधा का अस्तित्व अवश्य था ।

o

---

१. गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य : डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश`, पृ० २६०

२. वही, पृ० २६०

उपसंहार

गढ़वाल के लोक-जीवन का वास्तविक स्वरूप यहाँ के लोक-साहित्य में प्रतिबिम्बित हुआ है । लोक-साहित्य के द्वारा इस क्षेत्र की स्थानीय एवं सामान्य लोक-संस्कृति की काव्यात्मक अभिव्यंजना हुई है । लोक-साहित्य की समस्त सामग्री यहाँ के सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, धार्मिक, नैतिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक पक्षों की रूपरेखा प्रकट करके यहाँ के लोगों का जीवन-दर्शन प्रस्तुत करती है ।

पंवारे और अन्य लोक-गाथाएं मध्यकाल का सामाजिक अध्ययन करने के लिए विशेष उपयोगी हैं । उनसे ज्ञात होता है कि इस क्षेत्र में ब्राह्मण और क्षत्रिय विशेष प्रभावशाली रहे हैं । वैश्य एवं शूद्रों का अस्तित्व नगण्य है । निम्न वर्ग की जैसी कोई अपनी स्पृहा ही नहीं है । वह एक घुटन में पिसता हुआ सा दिखाई देता है।

स्थानीय लोक-समाज में समय-समय पर जिस साम्य-वैषम्य का अनुभव किया, लोक-गाथाओं में उसका यथातथ्य वर्णन उपलब्ध होता है । एक ओर यदि माता-पुत्री के निश्छल प्रेम का चित्रण हुआ है, तो दूसरी ओर माता-पिता एवं भाईयों के द्वारा उसके प्रति उपेक्षा की भावना को भी वाणी मिली है । सास-बहु और ननद-भावज के मधुर एवं कटु व्यवहारों का मार्मिक वर्णन उसमें किया गया है, तो पतिव्रता नारी के अतिरिक्त कर्कशा एवं कुलटा स्त्री भी उसका विषयबनी है । जीवन के कोमल-कठोर तथा सुन्दर-असुन्दर सभी रूपों का वर्णन इन गाथाओं में रहने के कारणआदर्श और यथार्थ का प्रत्येक धरातल पर मणिकांचन योग हुआ है ।सामान्य लोक-नीति, आचार-विचार, परम्परा-प्रथा आदि का सभी रचनाओं में न्यूनाधिक विवेचन किया

गया है । ग्रामीण कृषक जीवन से सम्बन्धित परिस्थितियों एवं लोक-विश्वासों को विशेष महत्व दिया गया है ।

पंवारों, प्रबन्ध-गीतों एवं लोक-कथाओं के द्वारा राजनैतिक जीवन की भी झलक मिलती है । छोटी-छोटी बातों पर युद्ध करनेवाले राजाओं की मनोवृत्ति उनमें स्पष्ट रूप से व्यक्त हुई है । प्राय: युद्ध किसी सुन्दरी के कारण या एक दूसरे को अपमानित करने के लिए हुआ करते थे । विधवा माताएं अपनी वीर संतानों को शत्रु के साथ लड़ने के लिए उकसाती थीं । `अमरावती` एक ऐसी ही मां है, जिसने `रणुरौत` को ऐतिहासिक ख्याति प्रदान की ।

यथार्थ की भूमि पर निर्मित होने के कारण गढ़वाली लोक-साहित्य स्थानीय आर्थिक जीवन पर भी प्रकाश डालता है । ग्रामीण जीवन में यदि सुख-समृद्धि तथा धन-धान्य के स्वप्न हैं, तो उसके दु:ख, गरीबी और भूख की चिंता के वर्णन भी उसमें उपलब्ध होते हैं । सूखे और दुर्भिक्ष के कुप्रभावों का वर्णन अनेक गाथाओं में हुआ है । `भानु भाँपिलो` गाथा में हिंसा हिंडवाण अक्ल के कारण आर्थिक रूप से इतना विपन्न हो जाता है कि वह अपने परिवार के लिए भोजन नहीं जुटा पाता है तो वह अपने परिवार को विष देकर मार डालता है और स्वयं भी मर जाता है ।

धार्मिक पक्ष की दृष्टि से गढ़वाली लोक-गाथाओं में प्रचुर सामग्री मिलती है । स्थानीय देवी-देवताओं, अनुष्ठान, धार्मिक-विश्वासों, जादू-टोना, शकुन-अपशकुन सम्बन्धी धारणाओं पर गाथाओं द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । यहां स्मार्त वैष्णव धर्म का मुख्य प्रभाव दिखाई पड़ता है । स्त्रियों की व्रत-उपवासों की संख्या अगणित है । पुत्र प्राप्ति की कामना से वे गंगा, सूर्य तथा अनेक देवियों की आराधना करते हुए दिखाई गयी हैं । भगतों एवं ओझाओं की मंत्र-पद्धति तांत्रिक साधनाओं का प्रभाव सूचित करती है । दु:ख अथवा वैषम्य का मूल कारण कर्म-फल मानना, भाग्य की प्रबलता

को स्वीकार करना तथा रूढ़ परम्पराओं की मान्यता अत्यन्त स्पष्ट है ।

जादू-टोनों की व्यापक चर्चा भी गढ़वाली लोक-गाथाओं में मिलती है । शत्रु नाश, रोग या भूत-प्रेत निवारण के लिए जादू-टोने का प्रयोग किया जाता है । `ब्रसकीले` गाथा में जब बरमी नाग द्वारा पराजित हो जाता है, तो नाग पर विजय प्राप्त करने के लिए और बरमी को पुनः जीवित करने के लिए सिद्धवा जादू-टोने का आश्रय लेता है और इस तरह वह `पत्थर माला` को प्राप्त करने में सफल हो जाता है तथा बरमी भी जीवित होकर पत्थर-माला से विवाह कर लेता है ।

इस प्रकार हम देखतेहैं कि लोक-विश्वास, जादू-टोने आदि, जो कि लोक-संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग होते हैं - गढ़वाली लोक-गाथाओं में पर्याप्त मात्रा में व्यक्त किये गये हैं । इनमें प्रकृति-पूजा , नाग-पूजा आदि के अवशेष भी विद्यमान हैं ।

यहाँ के समाज की नैतिकता के दर्शन भी गढ़वाली लोक गाथाओं में स्थान-स्थान पर होते हैं । स्त्रियाँ यदि संतान-कामना के लिए देवार्चना करती हुई दिखाई देती हैं, तो सतीत्व रक्षा के लिए अपने प्राण विसर्जन करने में भी वे हिचकती नहीं । प्रेम-भावना उच्च-स्तर पर चित्रित हुई है, जिसके वैयक्तिक, पारिवारिक एवं सामाजिक, सभी रूप व्यक्त हुए हैं । खान-पान, वेश-भूषा, दिन-वार आदि के अनेक उदाहरण शिक्षा के रूप में मिलते हैं । इनके द्वारा ही जनसाधारण का दैनिक जीवन परिचालित होता है । कब क्या करना चाहिए, क्या नहीं करना चाहिए, इसका स्पष्ट उल्लेख यहाँ उपलब्ध होता है । वस्तुतः बिना इनके सहारा लिए लोक-जीवन एक पग भी आगे नहीं बढ़ सकता ।

०

परिशिष्ट

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

१. डा० कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य का सामान्य परिचय
प्रथम संस्करण, प्रकाशक - साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड
इलाहाबाद ।

२. डा० कृष्णदेव उपाध्याय : लोक साहित्य की भूमिका,
प्रथम संस्करण सन् १९५७ ई०, प्रकाशक - साहित्य भवन
प्राईवेट लिमिटेड, इलाहाबाद ।

३. डा० कृष्णदेव उपाध्याय : लोक संस्कृति की रूपरेखा,
प्रथम संस्करण सन् १९८८ ई०, प्रकाशक - लोक भारती
प्रकाशन, इलाहाबाद ।

४. गोस्वामी तुलसीदास : रामचरित मानस (मूल गुटका)
प्रकाशक - गीताप्रेस, गोरखपुर ।

५. सं० डा० गोविन्द चातक : उत्तराखण्ड एक सर्वेक्षण
सन् १९६८ ई०, प्रकाशक - उत्तराखण्ड समाज, दिल्ली

६. डा० गोविन्द चातक : भारतीय लोक संस्कृति का सन्दर्भ : मध्यहिमालय,
प्रथम संस्करण सन् १९९० ई०, प्रकाशक - तक्षशिला प्रकाशन,
नई दिल्ली ।

७. डा० प्रयाग जोशी : कुमाऊँ गढ़वाल की लोक गाथाओं का विवेचनात्मक
अध्ययन, प्रथम संस्करण सन् १९८७ ई०, प्रकाशक - प्रकाश बुक
डिपो, बरेली ।

८. भगवतशरण उपाध्याय : प्राचीन भारत का इतिहास, प्रथम संस्करण,
सन् १९४९ ई०, प्रकाशक - ग्रन्थमाला कार्यालय, पटना ।

९. भोलानाथ तिवारी : भाषा और संस्कृति
प्रथम संस्करण सन् १९८४ ई०, प्रकाशक - प्रभात प्रकाशन, दिल्ली ।

१०. डा० मोहनलाल बाबुलकर : गढ़वाली लोक साहित्य का विवेचनात्मक अध्ययन, प्रथम संस्करण, सन् १९६४ ई०, प्रकाशक - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

११. रामनरेश त्रिपाठी : कविता कौमुदी, भाग ५, ग्राम गीत, सन् १९५८ ई०, प्रकाशक - नवनीत प्रकाशन लिमिटेड, बम्बई ।

१२. डा० वासुदेव शरण अग्रवाल : पृथ्वीपुत्र, द्वितीय संस्करण, सन् १९६० ई०, प्रकाशक - रामप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा ।

१३. डा० श्याम परमार : भारतीय लोक साहित्य, प्रथम संस्करण, सन् १९५४ ई०, प्रकाशक - राजकमल पब्लिकेशन लिमिटेड, बम्बई ।

१४. शशि सहगल : नयी कविता में मूल्य बोध प्रथम संस्करण, सन् १९७६ ई०, प्रकाशक - अभिनव प्रकाशन, दरियागंज, दिल्ली ।

१५. श्यामाचरण दूबे : मानव और संस्कृति, प्रथम संस्करण, सन् १९८२ ई०, प्रकाशक - राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली ।

१६. डा० सत्यकेतुविद्यालंकार : भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास, प्रथम एवं द्वितीय भाग, प्रकाशक - सरस्वती सदन, मसूरी ।

१७. डा० सत्यव्रत सिद्धांतालंकार : भारत की जनजातियां तथा संस्थाएं, प्रथम संस्करण सन् १९६० ई०, प्रकाशक - विजय कृष्ण लखनलाल एण्ड कम्पनी, विद्याविहार, देहरादून ।

१८. डा० सत्येन्द्र : ब्रज लोक-साहित्य का अध्ययन
द्वितीय संस्करण, सन् १९५७ ई०, प्रकाशक - साहित्य रत्न भंडार, आगरा ।

१९. डा० सत्येन्द्र : मध्य युगीन हिन्दी साहित्य का लोक-तात्विक अध्ययन, प्रथम संस्करण सन् १९६० ई०, प्रकाशक - विनोद पुस्तक मन्दिर, हास्पिटल रोड, आगरा ।

२०. डा० सत्येन्द्र : लोक साहित्य विज्ञान, द्वितीय संस्करण, सन् १९७१ ई० , प्रकाशक - शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा ।

२१. डा० सावित्री चन्द्र `शोभा` : समाज और संस्कृति, प्रथम संस्करण, सन् १९७५ ई०, प्रकाशक - नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दरियागंज, दिल्ली ।

२२. सूर्यकरण पारीक : राजस्थानी लोकगीत, प्रथम संस्करण वि० १९९९, प्रकाशक - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

२३. डा० सुरेश चन्द्र त्रिपाठी : कनउजी लोक-साहित्य में समाज का प्रतिबिम्ब, प्रथम संस्करण सन् १९७७ ई०, प्रकाशक - रुपायन प्रकाशन, अशोक विहार, दिल्ली ।

२४. संतराम अनिल : कनौजी लोक साहित्य, प्रथम संस्करण, प्रकाशक - अभिनव प्रकाशन, दिल्ली ।

२५. डा० हरिदत्त भट्ट `शैलेश` : गढ़वाली भाषा और उसका साहित्य सन् १९७६ ई०, प्रकाशक - हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश शासन, लखनऊ ।

२६. पं० हरिकृष्ण रतूड़ी : गढ़वाल का इतिहास, तृतीय संस्करण, सन् १९८८ ई०, प्रकाशक - भागीरथी प्रकाशन, टिहरी ।

२७. डा० हुकुमचन्द्र राजपाल : आधुनिक काव्य में नवीन जीवन मूल्य, प्रथम संस्करण सन् १९७२ ई०, प्रकाशक - दीपक पब्लिशर्ज, जालंधर ।

कोश

१. सं० एलेक्जेण्डर एच० क्रेप्पे : स्टेन्डर्ड डिक्सनरी आफ फोक लोर, एडिसन १९४६ ई०, प्रकाशक - विलियम एण्ड राबर्ट, चेम्बर्स, लिमिटेड, एडिनबर्ग ।

२. चन्द्रशेखर 'आजाद' : गढ़वाली हिन्दी कहावत कोश, प्रथम संस्करण, सन् १९७७ ई०, प्रकाशक - तक्षशिला प्रकाशन, नई दिल्ली ।

३. सं० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी साहित्य कोश, तृतीय संस्करण सन् १९८५ ई०, प्रकाशक - ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी ।

पत्रिकाएं

१. 'जनपद' - लोक साहित्य विशेषांक, अक्तूबर सन् १९५२ ई० प्रकाशक - काशी विश्वविद्यालय, वाराणसी ।

२. सम्मेलन पत्रिका : भाग ४७, अंक २, प्रकाशक - हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

३. हिन्दी अनुशीलन पत्रिका : वर्ष ४, अंक ४, प्रकाशक - भारतीय हिन्दी परिषद, इलाहाबाद ।